॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

महोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रथम अध्याय

सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन

अब यहाँसे महोपनिषद्का व्याख्यान किया जाता है। उस समय निश्चयपूर्वक एक नारायण थे; न ब्रह्मा थे न रुद्र; न जल था न अग्नि और न सोम थे; न ये द्युलोक और भूलोक थे; न नक्षत्र थे और न सूर्य थे; न चन्द्रमा ही थे। उन्होंने एकाकी रहना पसंद नहीं किया। उन परम पुरुषका अन्तःस्थ सङ्कल्परूपी ध्यान यज्ञस्तोम (महान् यज्ञ) कहलाया। उससे उत्पन्न हुए चौदह पुरुष और एक कन्या। दस इन्द्रिय, ग्यारहवाँ तेजस्वी मन, बारहवाँ अहङ्कार, तेरहवाँ प्राण तथा चौदहवाँ आत्मा—ये ही चौदह पुरुष हैं और पंद्रहवीं बुद्धि ही कन्या है। इनके अतिरिक्त पाँच सूक्ष्मभूतरूपी तन्मात्राएँ तथा पाँच महाभूत—इन पच्चीस तत्त्वोंका एक पुरुष (विराट् शरीर) बना। उसमें विराट् पुरुषने प्रवेश किया। इन पच्चीस तत्त्वोंवाले पुरुषसे प्रधान संवत्सर नहीं उत्पन्न होते। कालरूपी संवत्सरसे ही इस पुरुषके संवत्सर उत्पन्न हुए।

पश्चात् उन प्रसिद्ध नारायणने अन्य कामनासे मनमें ध्यान किया; उन अन्तःस्थ ध्यान करनेवालेके ललाटसे तीन नेत्रोंवाला, हाथमें त्रिशूल लिये हुए पुरुष उत्पन्न हुआ। उस श्रीसम्पन्न पुरुषके अङ्गमें यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, स्वाधीन मन, ऐश्वर्य और प्रणवके साथ व्याहृतियाँ, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा सारे छन्द समाश्रित थे। इसी हेतु वह महान् देवता 'ईशान' और 'महादेव' कहलाया।

पश्चात् पुनः नारायणने अन्य कामनासे मनमें ध्यान किया। उन अन्तःस्थ ध्यानीके ललाटसे स्वेद गिरा, वह पसीना फैलकर जल बन गया। उस जलसे हिरण्यमय तेजके रूपमें अण्ड उत्पन्न हुआ, उससे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने ध्यान किया। पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद एवं अग्नि देवताका ध्यान किया। पश्चिमकी ओर मुख करके भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद एवं वायु देवताका ध्यान किया। उत्तरकी ओर मुख करके स्वः व्याहृति, जगती छन्द, सामवेद एवं सूर्य देवताका ध्यान किया। दक्षिणकी ओर मुँह करके महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द, अथर्ववेद तथा सोम देवताका ध्यान किया।

सहस्रों सिरवाले देवताका, जिनके सहस्रों नेत्र हैं, जो सब प्रकारके कल्याणके हेतु हैं, जो सर्वतः व्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सर्वरूप हैं—उन श्रीहरि नारायणका ब्रह्माने ध्यान किया। ये परम पुरुष ही विश्वरूप हैं, इन पुरुषपर ही विश्वका जीवन अवलम्बित है; उन विश्वके स्वामी, विश्वरूप, विश्वेश्वरको—क्षीरसागरमें शयन करनेवाले देवताको ब्रह्माने ध्यानमें देखा।

पद्मकोशके समान, सम्यक्रूपसे कोशके आकारमें लम्बायमान अधोमुख जो हृदय है, जिससे निरन्तर सीत्कार-शब्द निकल रहा है, उसके मध्यमें एक महान् ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, जो विश्वको प्रकाशित करनेवाली दीपशिखाके समान दसों दिशाओंमें प्रकाश वितरण करती है; उस ज्वालाके मध्यमें थोड़ी दूर ऊपर उठी हुई एक पतली वह्निशिखा व्यवस्थित है। उस शिखाके बीचमें परमात्माका निवास है; वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही ईशान हैं, वे ही इन्द्र हैं, वे ही अक्षर परम स्वराट् हैं।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

शुकदेवजीको आत्माके सम्बन्धमें जनकका उपदेश; जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका स्वरूप

शुक नामक एक महातेजस्वी मुनीश्वर थे, जो निरन्तर आत्मानन्दके आस्वादनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने उत्पन्न होते ही सत्यकी, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की। इसलिये उन महामना शुकदेवजीने अपने विवेकसे स्वयं—बिना किसी उपदेशके चिरकालतक विचारकर आत्मस्वरूपका निश्चय किया॥ १-२॥

अनिर्वचनीय होनेके कारण, अगम्य होनेके कारण और मनरूपी षष्ठ इन्द्रियमें स्थित होनेके कारण यह आत्मा अणु-परिमाण है, चिन्मात्र है, आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इस परम चिद्रूपी अणुके भीतर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डरूपी रेणुकाएँ शक्ति-क्रमसे उत्पन्न और स्थित होकर विलीन होती रहती हैं। बाह्यशून्यताके कारण आत्मा आकाशस्वरूप है और चिद्रूपताके कारण अनाकाशस्वरूप है; उसका निर्देश नहीं किया जा सकता, अतएव वह अवस्तुरूप है; उसकी सत्ता है, अतः वह वस्तुरूप है; प्रकाशात्मक होनेके कारण वह चेतन है और वेदनाका विषय न होनेके कारण वह शिलाके समान है; अपने अन्तःस्थ आत्माकाशमें वह चित्र-विचित्र—नाना प्रकारके जगत्का उन्मेष करता है। यह विश्व उसका आत्मप्रकाशमात्र है, अतएव उससे पृथक् नहीं है। जगद्भेद भी आत्मामें ही भासित हो रहा है, अतएव वह भेद भी आत्ममय ही है। वह सबसे सम्बद्ध है, इस दृष्टिसे उसकी सर्वत्र गति है और उसमें गति न होनेके कारण वह कहीं जाता नहीं। उसका कोई आश्रय न होनेके कारण वह 'नास्ति' रूप है तथा सत्स्वरूप होनेके कारण 'अस्ति' रूप है। धनदाताकी परम गति है। जो ब्रह्म आनन्द और विज्ञानस्वरूप है, चित्तके द्वारा सारे सङ्कल्पोंका परित्याग ही जिसका ग्रहण है, जाग्रत् अवस्थाकी प्रतीतिके अभावको ही जिसकी प्रतीति बुद्धिमान् लोग बतलाते हैं, जिसके संकोच और विकाससे जगत्का प्रलय और सृजन होता है, वेदान्त-वाक्योंकी जो निष्ठा है तथा वाणीके लिये जो अगोचर है, वही सच्चित्-परमानन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, दूसरा नहीं हूँ—इस प्रकार अपनी ही सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा श्रीशुकदेव-मुनिको सब कुछ ज्ञात हो गया। स्वयं प्राप्त हुए परतत्त्वमें वे अविश्रान्त-निरन्तर संलग्न मनसे स्थित हुए। 'यही वस्तु है, वह नहीं' इस प्रकारका विश्वास आत्मतत्त्वमें उनको प्राप्त हुआ और तब, जिस प्रकार जलदके धाराप्रपातसे तुष्ट हुए चातकका चापल्य दूर हो जाता है, उसी प्रकार नाना प्रकारके भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले विषय-चापल्यसे विरत होकर उनका चित्त कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो गया॥ ३—१३॥

एक बार उन विमल प्रज्ञावान् शुकदेवजीने मेरु-पर्वतपर एकान्तमें स्थित हो अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन-मुनिसे भक्तिपूर्वक प्रश्न किया—'मुनीश्वर! यह जगत्-प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ, किस प्रकार विलीन होता है? यह क्या है, किसका है, कब हुआ है? बतलाइये।' इस प्रकार पूछनेपर आत्मज्ञानी व्यासजी महाराजने शुकको यथावत् सारी बातें बतलायीं; किंतु 'ये सब बातें तो मुझे पहलेसे ही ज्ञात हैं' यों समझकर शुकदेवजीने पिताकी बातोंको अपनी बुद्धिसे वैसा आदर नहीं दिया। इस प्रकार शुकदेवजीके अभिप्रायको समझकर भगवान् व्यासजीने शुकदेवमुनिसे कहा, 'मैं तत्त्वतः इन बातोंको नहीं जानता। मिथिलापुरीमें जनक नामक एक राजा हैं, वे इन सब बातोंको भलीभाँति जानते हैं; पुत्र! तुम उनसे सब कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिताके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर श्रीशुकदेवजीने सुमेरुपर्वतसे उतरकर भूतलकी ओर प्रयाण किया और वे जनकके द्वारा परिपालित विदेहनगरीमें जा पहुँचे॥ १४—२०॥

जब द्वारपालोंने महात्मा जनकको यह समाचार दिया कि 'राजन्! राजद्वारपर महर्षि व्यासके पुत्र श्रीशुकदेव-मुनि उपस्थित हैं', तब शुककी परीक्षाके लिये राजाने अवज्ञापूर्वक केवल इतना ही कहा कि 'वे वहीं ठहरें' इसके बाद राजा सात दिन चुप रहे। तदनन्तर राजा जनकने शुकदेवजीको राज-प्राङ्गणमें बुलवाया। वहाँ भी राजा सात दिनोंतक उसी प्रकार उदासीन रहे। तदनन्तर

राजाने उनको अन्तःपुरके आँगनमें बुलवाया और वहाँ भी सात दिनोंतक राजा शुकदेवजीके सामने नहीं आये। महाराज जनकने अन्तःपुरमें युवती स्त्रियों, नाना प्रकारके भोजन तथा भोग्य-पदार्थोंके द्वारा सौम्यवदन शुकदेवजीका आदर-सत्कार किया। वे भोग और भोज्य पदार्थ व्यास-पुत्र श्रीशुकदेवके मनको उसी प्रकार नहीं हर सके, जिस प्रकार मन्द पवन दृढ़तापूर्वक स्थित हुए पर्वतको चलायमान नहीं कर सकता। शुकदेवजी असङ्ग, समभावापन्न, निर्विकार, मौन और प्रसन्नचित्त होकर निर्मल पूर्णचन्द्रके समान स्थित रहे॥ २१—२७॥

जब राजा जनकने इस प्रकार श्रीशुकदेवजीके स्वभावकी परीक्षा कर ली, तब उन्हें पास बुलाया और प्रसन्नचित्त देखकर उन्हें प्रणाम किया। उनका स्वागत करते हुए राजाने कहा—'आपने अपने सांसारिक कृत्योंको निःशेष कर दिया है, आपको सारे मनोरथ प्राप्त हैं; ऐसी स्थितिमें आपकी क्या अभिलाषा है?' श्रीशुकदेव-मुनि बोले—'गुरुवर! मुझे शीघ्र और ठीक-ठीक बतलाइये कि यह जागतिक प्रपञ्च कैसे उत्पन्न होता है और किस प्रकार विलीन होता है?' महात्मा जनकने श्रीशुकदेवजीसे सारी बातें यथावत् बतलायीं, इन्हीं बातोंको उनके परम ज्ञानी पिता पहले ही बतला चुके थे। (इसपर शुकदेवजीने कहा—) 'मैंने स्वयं ही विशेषरूपसे इसे जाना था, पूछनेपर मेरे पिताजीने भी यही बातें मुझको बतलायीं। ज्ञानिश्रेष्ठ! आपने भी यही बात बतलायी और यही विषय शास्त्रोंमें भी दिखलायी देता है। मनके विकल्पसे प्रपञ्च उत्पन्न होता है और उस विकल्पके नाश होनेपर इसका नाश हो जाता है। निन्दनीय संसार निःसार है, यह निश्चित है। तब हे महाभाग! यह है क्या वस्तु? मुझे सत्य बात बतलाइये। जगत्के सम्बन्धमें भ्रान्त हुआ मेरा चित्त आपके द्वारा ही शान्तिको प्राप्त कर सकता है'॥ २८—३५॥

राजा जनकने कहा—'शुकदेवजी! तुम सुनो, मैं सारे ज्ञान-विस्तारको कहता हूँ—जो समस्त ज्ञानका सार तथा रहस्योंका भी रहस्य है एवं जिसके जाननेसे पुरुष शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। दृश्य-जगत् है ही नहीं—यह बोध हो जानेपर मनकी दृश्य-विषयसे परिशुद्धि हो जाती है। जब यह बोध परिपक्व हो जाता है, तब उससे निर्वाणरूपी परमा शान्ति प्राप्त होती है। वासनाओंका जो निःशेष परित्याग होता है, वही श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्ध अवस्थाको साधुजनोंने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओंसे युक्त हैं तथा जिनका जीवन अनर्थोंसे शून्य है एवं जिन्हें ज्ञेयतत्त्व ज्ञात है, महाबुद्धिमान् शुकदेवजी! वे पुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं। पदार्थभावनाकी दृढ़ता ही बन्ध कहलाती है और ब्रह्मन्! वासनाओंकी क्षीणताको ही मोक्ष कहा जाता है'॥ ३६—४१॥

'बिना तपःसाधन आदिके स्वभावतः ही जिसे जगत्के भोग अच्छे नहीं लगते, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यथासमय प्राप्त होनेवाले सुखों और दुःखोंमें अनासक्त हुआ जो न प्रसन्न होता है और न दुःखी होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष (उद्वेग), भय, क्रोध, काम और कार्पण्य (शोक)-की दृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अछूता रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहङ्कारमयी वासनाको सहज ही त्याग करके स्थित होता है, वह चित्तालम्बनका सम्यक् त्याग करनेवाला जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसकी दृष्टि सदा अन्तर्मुखी रहती है, जिसको न किसी पदार्थकी आकाङ्क्षा होती है और न उपेक्षा, जो सुषुप्तिके समान स्थितिमें विचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदा आत्मामें रत है, जिसका मन पूर्ण और पवित्र है, परमश्रेष्ठ शान्त अवस्थाको प्राप्तकर जो संसारमें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, जो किसीके प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन विचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदयाकाश संवेद्य पदार्थोंके द्वारा तनिक भी लिपायमान नहीं होता तथा चेतन संवित् ही जिसका स्वरूप है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, धर्माधर्म, फलाफलकी अपेक्षा न करके जो काम करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभावको छोड़कर, मान और मत्सर त्यागकर, निरुद्वेग और संकल्पहीन होकर कार्य करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सर्वत्र स्नेहरहित होकर साक्षीके समान अवस्थित रहता है तथा बिना किसी इच्छाके कर्तव्यमें लगा रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म और अधर्मको, जगत्के चिन्तनको तथा सारी इच्छाओंको अन्तःकरणसे परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यह सारा दृश्य-प्रपञ्च, जो देखनेमें आता

है—इसको जिसने भलीभाँति त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। चरपरे, खट्टे, नमकीन, कड़वे, स्वादिष्ट तथा स्वादहीनको जो एक समान समझकर खाता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। बुढ़ापा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य और दारिद्र्य—सबको रम्य मानकर जो उपभोग करता है, वह जीवन्मुक्त है। धर्म और अधर्म, सुख-दुःख तथा जन्म और मरण—इनको जिसने हृदयसे पूर्णतः त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त है। जो समत्वपूर्ण तथा स्वच्छ बुद्धिसे, उद्वेग और आनन्दसे रहित होकर न शोक करता है न उत्साहित होता है, वह जीवन्मुक्त है। सारी इच्छाओं, सारी शङ्काओं, सारी कामनाओं और सारे निश्चयोंका जिसने मनसे परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जन्म, स्थिति और विनाशमें, उन्नति तथा अवनतिमें—सदा जिसका मन एक समान रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, जो प्रारब्धप्राप्त भोगोंका उपभोग करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने संसारका चिन्तन छोड़ दिया है, जो कलावान् होकर भी निष्कल रहता है, चित्तके होते हुए भी निश्चित्त रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सम्पूर्ण अर्थ-जालके मध्य व्यवहार करता हुआ उनसे उसी प्रकार निःस्पृह रहता है, जैसे पराये धनके विषयमें मनुष्य निःस्पृह रहता है तथा जो आत्मामें ही पूर्णताका अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त है'॥ ४२—६२॥

'शरीरके काल-कवलित होनेपर वह जीवन्मुक्त अवस्थाको छोड़कर गतिहीन पवनके समान विदेहमुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है। विदेहमुक्त अवस्थामें जीवकी न उन्नति होती है न अवनति होती है और न उसका लय ही होता है; वह अवस्था न सत् है, न असत् है और न दूरस्थ है। उसमें न अहंभाव है और न परायाभाव है। विदेहमुक्ति गम्भीर, स्तब्ध अवस्था होती है; उसमें न तेज व्याप्त होता है और न अन्धकार। उसमें अनिर्वचनीय और अभिव्यक्त न होनेवाला एक प्रकारका सत् अवशिष्ट रहता है। वह न शून्य होता है न आकारयुक्त होता है, न दृश्य होता है और न दर्शन होता है। उसमें ये भूत और पदार्थोंके समूह नहीं होते—केवल सत् अनन्तरूपमें अवस्थित होता है। वह ऐसा अद्भुत तत्त्व होता है कि जिसके स्वरूपका निर्देश नहीं किया जा सकता। उसकी आकृति पूर्णसे भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है और न असत् और न सत्-असत् दोनों होता है; न भाव होता है और न भावना; वह चेतनामात्र होता है परंतु चित्तविहीन होता है, अनन्त होता है। अजर होता है परंतु शिवस्वरूप, कल्याणकारी होता है। उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं होता। वह अनादि तथा दोषहीन होता है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीमें वह केवल दर्शनस्वरूप माना जाता है। शुकदेवमुनि! इस विषयमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। तुमने इस तत्त्वको स्वयं ही जान लिया है तथा अपने पितासे भी सुना है कि जीव अपने सङ्कल्पसे ही बन्धनमें पड़ता है और सङ्कल्पहीन होनेपर मुक्त हो जाता है। अतएव तुमने स्वयं उस तत्त्वको जान लिया, जिसको जान लेनेपर इस संसारमें महात्माओंको समस्त दृश्योंसे अथवा भोगोंसे विरति उत्पन्न हो जाती है। तुमने पूर्ण चेतनामें स्थिति लाभकर समस्त प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर लिया है। तुम तपःस्वरूपमें स्थित हो। ब्रह्मन्! तुम मुक्त हो, भ्रान्तिको छोड़ो। शुकदेवजी! बाहर तथा अत्यन्त बाहर, अन्तःकरणमें तथा उसके भी भीतर देखते हुए भी तुम नहीं देखते; तुम पूर्ण कैवल्य-स्थितिमें साक्षिमात्र रहते हो'॥ ६३—७३॥

तदुपरान्त श्रीशुकदेवजी शोक, भय और श्रमसे रहित होकर संशयहीन और निष्काम हो, परतत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित होकर चुपचाप विश्रामको प्राप्त हुए। अखण्ड समाधिके लिये वे सुमेरुपर्वतके शिखरकी ओर लौट गये। वहाँ सहस्रों वर्षोंतक,स्नेहहीन दीपकके समान उन्होंने आत्मदेशमें स्थित हो निर्विकल्प समाधिके द्वारा शान्तिलाभ किया। सङ्कल्परूपी दोषोंसे रहित, शुद्धस्वरूप, पवित्र और निर्मल आत्मपदमें वे महात्मा शुकदेवजी वासनाविहीन होकर उसी प्रकार एकत्वको प्राप्त हुए, जिस प्रकार सलिल-कण समुद्रमें विलीन होकर उसमें एकताको प्राप्त होता है॥ ७४—७७॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त॥ २॥

ॐ

तृतीय अध्याय

निदाघके वैराग्यपूर्ण उद्गार

निदाघ नामके एक मुनीश्वर बालक अपने पितासे आज्ञा प्राप्तकर अकेले तीर्थयात्राके लिये निकले। साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नान करके अपने घर लौटे तथा घर लौटकर उन महायशस्वीने अपने पिता ऋभु मुनिसे अपना सब समाचार कह सुनाया। [उन्होंने कहा]—'पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो पुण्य हुआ है, उसके फलस्वरूप मेरे मनमें इस प्रकारके विचार प्रकट हुए हैं। संसार उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है और नष्ट होता है पुनः उत्पन्न होनेके लिये। समस्त चर और अचर प्राणियोंकी चेष्टाके साथ यह प्रपञ्च अस्थिर है, क्षणस्थायी है। ऐश्वर्यकी भूमिमें (उत्पन्न होनेवाले) ये पदार्थ सारी आपदाओंके हेतु हैं। लोहेकी सलाईके समान एक-दूसरेसे अलग रहते हुए ये पदार्थ केवल इस मानसिक कल्पनारूपी चुम्बकके द्वारा एकत्र होते हैं। जिस प्रकार पथिकको मरुस्थलमें चलते-चलते विरति हो जाती है, उसी प्रकार मेरी इन पदार्थोंमें अरति हो गयी है। ये जागतिक पदार्थ मुझे दुःखमय प्रतीत होने लगे हैं। अब इस दुःखका शमन कैसे होगा—यह सोच-सोचकर मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है। ये धन, जिनके पीछे चिन्ताओंके समूह चक्रके समान भ्रमण करते रहते हैं, मुझे आनन्द नहीं प्रदान करते। स्त्री-पुत्रादि मानो उग्र आपदाओंके निकेतन हैं। मुनीश्वर! संसारमें उदाररूपमें स्थित, अत्यन्त कोमलाङ्गी जो ये श्रीलक्ष्मीजी हैं, वे भी परम मोहकी ही हेतु हैं। निश्चय ही वे भी आनन्द प्रदान करनेवाली नहीं हैं। मनुष्यकी आयु पल्लवके कोणके अग्रभागमें लटकते हुए जलकणके समान क्षणभङ्गुर है। इस तुच्छ शरीरको असमय ही छोड़कर उन्मत्तके समान मुझे जाना ही पड़ेगा। विषयरूपी सर्पके सङ्गसे जिनका चित्त जर्जर हो गया है तथा जिनको प्रौढ आत्मविवेक नहीं हुआ है, उनके लिये जीवन कष्टका ही हेतु बनता है। वायुको लपेटना बनता है, आकाशको खण्ड-खण्ड करना बनता है, लहरोंको गूँथना बनता है, परंतु जीवनमें आस्था रखना नहीं बनता। जिसके द्वारा प्राप्य वस्तुको सम्यक् रीतिसे प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण पुनः शोक नहीं करना पड़ता, जिसमें परा शान्ति प्राप्त कर ली जाती है, वही जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष भी जीते हैं, मृग और पक्षी भी जीते हैं; किंतु वस्तुतः वही जीता है, जिसका मन आत्मचिन्तनमें लगा हुआ है। इस संसारमें उत्पन्न हुए उन्हीं जीवोंका जीवन श्रेष्ठ है, जो पुनः आवागमनमें नहीं पड़ते; शेष तो बूढ़े गधेके समान हैं। ज्ञानी पुरुषके लिये शास्त्र भारस्वरूप हैं, रागी पुरुषके लिये ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त पुरुषका मन भारस्वरूप होता है और जो आत्मज्ञ नहीं हैं, उनके लिये यह शरीर भाररूप है। अहङ्कारके कारण विपत्ति आती है, अहङ्कारके कारण दुष्ट मनोव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारके कारण कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। अहङ्कारके वश होकर चर और अचररूप जिन-जिन भोगोंको मैंने भोगा है, वे सब-के-सब अवस्तु अर्थात् मिथ्या भ्रमरूप थे। वस्तु तो केवल अहङ्कारशून्यता ही है। यह मन व्यग्र होकर इधर-उधर व्यर्थ ही दौड़ता है, व्यर्थ ही दूर-दूरतक जाता है; इसका ढंग गाँवमें घूमनेवाले कुत्तेके-जैसा है। तृष्णारूपी कुतियाके पीछे-पीछे भटकनेवाले कुत्तेके समान इस क्रूर मनके वशीभूत होकर मैं जड हो गया था। ब्रह्मन्! अब मैं उसकी दासतासे मुक्त हो गया हूँ। ब्रह्मन्! चित्तका निग्रह करना समुद्र पानसे भी कठिन है, सुमेरुपर्वतको उखाड़ फेंकनेसे भी दुष्कर है तथा अग्निभक्षणसे भी विषम कार्य है। बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयोंका हेतु चित्त है; उसके आधारपर ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों प्रकारके जगत्की स्थिति है। चित्तके क्षीण होनेपर संसार क्षीण हो जाता है। अतएव प्रयत्नपूर्वक चित्तकी ही चिकित्सा होनी चाहिये॥ १—२१॥

'मुनीश्वर! जिन-जिन श्रेष्ठ गुणोंका मैं आश्रय लेता हूँ, मेरी तृष्णा उन-उन गुणोंको उसी प्रकार काट डालती है, जैसे दुष्ट चुहिया वीणाके तारको काट डालती है। यह तृष्णा चञ्चल बंदरीके समान अलङ्घनीय स्थलमें भी अपना पैर जमाना चाहती है, तृप्त होनेपर भी विविध फलोंकी इच्छा करती है, एक स्थानपर चिरकालतक नहीं ठहरती। क्षणमात्रमें पाताल पहुँचती है और क्षणभरमें

आकाशकी सैर करती है, क्षणभरमें दिशारूपी कुञ्जोंमें घूमने लगती है; यह तृष्णा हृदय-कमलमें विचरण करनेवाली भ्रमरी है। संसारके सारे दुःखोंमें यह तृष्णा ही दीर्घ दुःख देनेवाली है, जो अन्तःपुरमें रहनेवालोंको भी अत्यन्त सङ्कटमें डाल देती है। तृष्णारूपी महामारीका नाश करनेवाला मन्त्र है—चिन्ताका त्याग करना। ब्राह्मण! थोड़ा भी चिन्ताका त्याग करनेसे आनन्दकी प्राप्ति होती है और थोड़ी भी चिन्ता करनेसे दुःख प्राप्त होता है। शरीरके समान गुणहीन, नीच तथा शोचनीय वस्तु कोई नहीं है। अहङ्काररूपी गृहस्थका यह शरीर महागृह है। पिताजी! यह नष्ट हो जाय या चिरकालतक रहे—इससे मुझे क्या? इन्द्रियरूपी पशु जिसमें पंक्तिमें बँधे हुए हैं, जिस घरके प्राङ्गणमें तृष्णा चलती-फिरती है, चित्तवृत्तिरूपी भृत्यजनोंसे जो समाकीर्ण है—ऐसा यह शरीररूपी गृह मुझे इष्ट नहीं, प्रिय नहीं। यह मुखरूपी द्वार जिह्वारूपी बंदरीसे आक्रान्त होकर भयानक बन रहा है। जिसके द्वारपर दाँतरूपी हड्डीके टुकड़े दिखलायी पड़ रहे हैं—ऐसा यह शरीररूपी गृह मुझे इष्ट नहीं, प्रिय नहीं। हे मुनीश्वर! भीतर और बाहर रक्त और मांससे व्याप्त, केवल विनाशशील इस शरीरमें रम्यता कहाँ है; बतलाइये तो? शरत्कालीन बादलोंकी बिजलीमें तथा गन्धर्वनगरीमें यदि किसीने स्थिरता निश्चित की है तो वह इस शरीरकी स्थिरतामें विश्वास कर सकता है। बाल्यावस्थामें गुरुसे, माता-पितासे, बड़े लड़कोंसे तथा अन्य लोगोंसे डर लगता है; अतएव शैशव भयका घर है। (युवावस्थामें) अपने चित्तरूपी गुफामें रहनेवाले, नाना प्रकारके भ्रमोंमें डालनेवाले इस कामरूपी पिशाचसे बलात् विवश होकर मनुष्य पराजित हो जाता है। बुढ़ापेमें उन्मत्तके समान काँपते हुए मनुष्यको देखकर दास, पुत्र और स्त्रियाँ, बन्धु तथा मित्रगण हँसा करते हैं। बुढ़ापेमें असमर्थताके कारण लालसा बहुत अधिक बढ़ जाती है। यह बुढ़ापा हृदयमें दाह प्रदान करनेवाली सारी आपदाओंकी प्रिय सहेली है। संसारमें जिस सुखकी भावना की जाती है, वह कहाँ है? आयुको तृणके समान पाकर काल उसे काटता ही जा रहा है। छोटेसे तृण तथा रजःकणको महेन्द्र तथा स्वर्णमय सुमेरुपर्वतको सर्षप (सरसों) बना देनेवाला यह सर्वसंहारी काल अपना पेट भरनेके लिये सबको आत्मसात् करनेको उद्यत है। तीनों लोक कालके द्वारा आक्रान्त हैं॥ २२—३८॥

'यन्त्रके समान चञ्चल अङ्गरूपी पिंजरेमें मांसकी पुतलीके समान स्नायु तथा अस्थिकी ग्रन्थियोंसे निर्मित स्त्रीके शरीरमें कौन-सी वस्तु है, जिसे सुन्दर कहा जाय? नेत्रमें स्थित त्वचा, मांस, रक्त, आँसू—इनको अलग-अलग करके देखो; इनमें कौन-सी वस्तु रम्य है? फिर व्यर्थ ही क्यों मोहको प्राप्त हो रहे हो। मेरु-पर्वतके शिखरोंके तटसे समुल्लसित होनेवाली गङ्गाजीकी चञ्चल गतिके समान, हे मुनि! मुक्ताहारका सम्यक् उल्लास जिसमें देखा गया है, काल आनेपर उस ललनाके स्तनको श्मशानके कोनेमें मांसके छोटे पिण्डके रूपमें कुत्ते खाया करते हैं! केश और काजल धारण करनेवाली तथा देखनेमें प्रिय लगनेवाली होनेपर भी जिनका स्पर्श दुःखदायी होता है, वे दुष्कृतिरूप अग्निकी शिखाके समान नारियाँ पुरुषको तृणके सदृश जला डालती हैं। स्त्रियाँ बहुत दूरपर जलनेवाली नरकाग्नियोंकी सुन्दर और दारुण इन्धनस्वरूपा हैं; वे सरस प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः नीरस हैं। काम नामक किरातने पुरुषरूपी मृगोंके अङ्गोंको बन्धनमें बाँधनेके लिये स्त्रीरूपी जाल फैला रखा है। पुरुष जो जीवनरूपी तलैयाके मत्स्य हैं और चित्तरूपी कीचड़में विचरण करते हैं; उनको फँसानेके लिये नारी दुर्वासनारूपी रज्जुमें बँधी बंसीमें पिण्डिका (चारे)-के समान है। यह सारे दोषरूपी रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला समुद्र ही है। यह दुःखोंकी शृङ्खला हमसे सदा दूर ही रहे। जिसके स्त्री है, उसे भोगेच्छा उत्पन्न होती है। जिसे स्त्री नहीं, उसके लिये भोगका हेतु क्या हो सकता है? जिसने स्त्रीको छोड़ दिया, उसका संसार छूट गया और संसारको छोड़कर ही मनुष्य सुखी बन सकता है॥ ३९—४८॥

'दिशाएँ भी नहीं दीख पड़तीं, देश भी दूसरेके लिये उपदेशप्रद बन जाते हैं अर्थात् काल-कवलित हो जाते हैं, पर्वत भी चूर-चूर हो जाते हैं, तारे भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं। समुद्र भी सूख जाते हैं, ध्रुव नक्षत्रका जीवन भी अस्थायी होता है। सिद्ध पुरुष भी नाशको प्राप्त होते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त हो जाते हैं। चिरकालस्थायी ब्रह्मा तथा अजन्मा विष्णुभगवान् भी अन्तर्धान हो जाते हैं। सारे भाव अभावको प्राप्त होते हैं, दिशाओंके अधिपति भी जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवता

तथा सारे प्राणिवर्ग, जैसे जल बडवानलकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार विनाशकी ओर दौड़ते हैं। क्षणभरमें आपदाएँ आ घेरती हैं और क्षणमें सम्पदाएँ आ जाती हैं। क्षणभरमें जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु हो जाती है। यह समस्त प्रपञ्च नश्वर है। इस विश्वमें कायर पुरुषके द्वारा शूरवीर मारे जाते हैं। एकके द्वारा सैकड़ोंका विनाश होता है। विषय-वासनाके कारण चित्तकी विषमता ही विष है, विष विष नहीं कहलाता; क्योंकि विष एक जन्मका विनाश करता है और विषय जन्म-जन्मान्तरको नष्ट कर देते हैं। इस समय इस दोषरूपी दावानलसे दग्ध मेरे चित्तमें ऐसा भान हो रहा है। मृगतृष्णाके सरोवरमें खड़े होनेपर भी मुझमें भोगाशाकी स्फुरणा नहीं होती। अतएव हे गुरुवर! आप तत्त्वज्ञानके द्वारा मुझे शीघ्र ही बोध प्रदान कीजिये। नहीं तो मान और मत्सरको छोड़कर, चित्तमें भगवान् विष्णुका स्मरण करते हुए मैं चित्रलिखितकी भाँति रहकर मौन धारण कर लूँगा'॥ ४९—५७॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त॥ ३॥

चतुर्थ अध्याय

निदाघके प्रति उनके पिता ऋभुका उपदेश

निदाघ मुनिकी बात सुनकर उनके पिता ऋभु मुनि बोले—'ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ निदाघ मुनि! तुम्हारे लिये अब कुछ अन्य ज्ञातव्य नहीं रह गया है। तुम ईश्वरकी कृपासे अपनी प्रज्ञासे ही सब कुछ जान गये हो। तथापि चित्तकी मलिनतासे उत्पन्न तुम्हारे भ्रमको, हे मुनि! मैं दूर करूँगा। मोक्षद्वारके चार द्वारपाल बतलाये गये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सत्सङ्ग। पूर्ण यत्नपूर्वक सब कुछ छोड़कर इनमें एकका भी आश्रय पकड़ ले। एकको वशमें करनेसे शेष तीनों वशमें हो जाते हैं। पहले संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये शास्त्रोंके द्वारा, तप और दमके द्वारा तथा सत्सङ्गके द्वारा अपनी प्रज्ञाको बढ़ाये। आत्मानुभव, शास्त्र तथा गुरुके वचनोंकी एकवाक्यताके अभ्याससे निरन्तर आत्मचिन्तन किया जाता है। यदि निरन्तर तुम सङ्कल्प और आशाके अनुसन्धानका त्याग करते हो तो तुम्हें वह पवित्र अचित्तत्व—कैवल्य प्राप्त ही है। चित्तका जो अकर्तृत्व है, वही चित्तकी वृत्तियोंका निरोध अर्थात् समाधि कहलाता है। यही केवल-अवस्था है और यही परम कल्याणरूपा परा शान्ति कहलाती है। संसारके समस्त पदार्थोंमें आत्मभावनाका भलीभाँति मनसे परित्याग करके तुम संसारमें गूँगे, अन्धे और बहिरे-से होकर रहो।' 'सब कुछ प्रशान्त है, एक है, अजन्मा है, आदि-मध्यहीन है, सब ओर प्रकाशयुक्त है, केवल अनुभवरूप है, अचित्त है, सब कुछ प्रशान्त है'—इत्यादि जो शब्दमयी दृष्टि है, वह व्यर्थ है। आत्मबोधमें बाधक ही है। जो कुछ भी यह दृश्य-प्रपञ्च है, तत्त्वतः सब प्रणवरूप है। जो कुछ भी दृश्य यहाँ दिखलायी देता है, वह चिद्-जगत्में दिखलायी देता है। वह चित्के निष्पन्दनका एक अंशमात्र है। अतएव चित्से अतिरिक्त कुछ नहीं है—ऐसी भावना करो। तुम नित्य प्रबुद्धचित्त होकर सांसारिक कार्योंको करते हुए भी आत्माके एकत्वको जानकर प्रशान्त महासिन्धुके समान निश्चल बने रहो॥ १—११॥

'वासनारूपी तृणको दग्ध करनेवाला अग्नि यह आत्मज्ञान ही है। इसे ही 'समाधि' शब्दसे लक्षित करते हैं। चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं है। जिस प्रकार रत्नके इच्छारहित होकर पड़े रहनेपर भी लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार सत्तामात्र परतत्त्वकी ओर सारा जगत् आकर्षित होता है। अतएव हे मुनि! आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हैं। इच्छारहित होनेके कारण आत्मा अकर्ता है और सन्निधिमात्रसे वह कर्ता है। मुनि! कर्तृत्व और अकर्तृत्व—ये दोनों ब्रह्ममें पाये जाते हैं। जिसमें यह चमत्कार है, उसका आश्रय लेकर स्थिर हो जाओ। अतएव 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ' इस प्रकारकी प्रबल भावनासे युक्त होनेपर केवल परम अमृता नामकी समता ही अवशिष्ट रहती है। निदाघ! सुनो; जो सत्त्वमें स्थित होकर इस लोकमें जन्मे हैं, वे महान् गुणी हैं। उनकी सदा ही उन्नति होती है तथा वे आकाशमें चन्द्रमाओंके समान सदा प्रसन्न रहते हैं'॥ १२—१७॥

'सत्त्वस्थ पुरुष रात्रिमें स्वर्णकमलकी भाँति विपत्तिमें कुम्हलाते नहीं। वे प्राप्त भोगके सिवा अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करते और शास्त्रोक्त मार्गमें विचरण करते हैं। वे स्वभावतः ही मैत्री, करुणा, मुदिता और

उपेक्षा प्रभृति गुणोंसे सुशोभित रहते हैं। सौम्य! वे समभावमें रहते हुए निरन्तर साधुवृत्तिमें एकरस बने रहते हैं। समुद्रके समान मर्यादाको छोड़कर वे विशालहृदय हो जाते हैं। वे महात्मा सूर्यनारायणके समान नियति-पथपर (नियमानुकूल) चलते रहते हैं। 'मैं कौन हूँ, यह विस्तृत जगत्प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ'—संतजनोंके साथ प्राज्ञपुरुष यत्नपूर्वक इन प्रश्नोंपर विचार करे। वह अकार्यमें न लगे तथा अनार्य पुरुषका सङ्ग न करे; सबका संहार करनेवाली मृत्युको उपेक्षाकी दृष्टिसे न देखे। शरीर, अस्थि, मांस तथा रक्त आदिको घृणास्पद समझकर उनकी उपेक्षा करे तथा प्राणिसमुदायरूपी मोतियोंकी लड़ियोंमें सूत्रके समान पिरोये हुए चिदात्मापर ही दृष्टि रखे। उपादेय वस्तुकी ओर दौड़ना तथा हेयवस्तुका सर्वथा त्याग कर देना—यह जो मनका स्वरूप है, वह बाह्य है, आभ्यन्तर नहीं; इसको जान लो। चिद्घनके विषयमें गुरु और शास्त्रके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे तथा अपनी अनुभूतिसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—यों जानकर मुनि शोकविहीन हो जाय। इस अवस्थामें शतशः तीक्ष्ण कृपाणके आघात कमलके कोमल आघातके समान सह्य हो जाते हैं, अग्निके द्वारा दाह हिमस्नानके समान सह्य हो जाता है, अँगारोंपर लोटना चन्दनके लेपके समान शीतल लगता है, निरन्तर बाणोंके समूहका शरीरपर गिरना गरमीको शान्त करनेवाले धारागृह (फव्वारे)-के जलकणोंकी वर्षाके समान मनोरञ्जक बन जाता है, अपने सिरका काटा जाना सुखप्रद निद्राके समान, (जीभ आदि काटकर) गूँगा कर दिया जाना मुखके मूँद दिये जानेके समान तथा बधिरता महान् उन्नतिके समान लगती है; पर यह अवस्था उपेक्षासे नहीं प्राप्त होती। दृढ़ वैराग्यजन्य आत्मज्ञानसे यह प्राप्त होती है। गुरुके उपदेशानुसार स्वानुभूति आदिके द्वारा जो अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, उसके अभ्यासद्वारा निरन्तर आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। जिस प्रकार दिग्भ्रमके नष्ट हो जानेपर पहलेके समान ही दिशाका बोध होने लगता है, उसी प्रकार विज्ञानके द्वारा विध्वस्त हो जानेपर जगत् नहीं रहता—इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये। न धनसे पुरुषका उपकार होता है, न मित्रोंसे और न बान्धवोंसे। न शारीरिक क्लेशके दूर होनेपर और न तीर्थस्थानमें वास करनेसे पुरुष उपकृत होता है। केवल चिन्मात्रमें विलीन होनेपर ही परमपद प्राप्त हो सकता है॥ १८—२८॥

'जितने दुःख हैं, जितनी तृष्णाएँ हैं तथा जितनी दुःसह दुश्चिन्ताएँ हैं, शान्तचित्त पुरुषोंमें वे सब उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार रवि-किरणोंमें अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस संसारमें शमसे युक्त पुरुषका कठोर और मृदु—सभी प्राणी उसी प्रकार विश्वास करते हैं जैसे माताका पुत्र विश्वास करते हैं। अमृतके पान करनेसे तथा लक्ष्मीके आलिङ्गनसे वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख मनुष्य मनकी शान्तिसे पाता है। शुभाशुभको सुनकर, स्पर्श करके, भोजन करके, देखकर तथा जानकर जिसे न हर्ष होता है और न दुःख होता है, वह शान्त कहलाता है। चन्द्रमण्डलके समान जिसका मन स्वच्छ है तथा मृत्यु, उत्सव तथा युद्धमें जिसका मन अधीर नहीं होता, वह शान्त कहलाता है। तपस्वियोंमें, बहुश्रुतोंमें, यज्ञ करनेवालोंमें, राजाओंमें, वनवासियोंमें तथा गुणीजनोंमें शमशील ही सुशोभित होता है। सन्तोषरूपी अमृतका पान करके जो शान्त एवं तृप्त हो जाते हैं, वे ही आत्मामें रमण करनेवाले महात्मा परमपदको प्राप्त होते हैं। जो अप्राप्त वस्तुके लिये चिन्ता नहीं करता तथा सम्प्राप्त वस्तुमें सम रहता है, जिसने दुःख और सुखको नहीं देखा है—वही सन्तुष्ट कहलाता है। जो अप्राप्त वस्तुकी कामना नहीं करता और प्राप्त वस्तुका ही यथेच्छ भोग करता है, वह सौम्य और समान भावसे आचरण करनेवाला पुरुष सन्तुष्ट कहलाता है। अन्तःपुरके आँगनमें ही जिस प्रकार साध्वी स्त्री प्रसन्न रहती है, उसी प्रकार यथाप्राप्तमें ही जब बुद्धि रमने लगती है, तब वह स्वरूपानन्द प्रदान करनेवाली जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है। समयानुसार, शास्त्रानुसार, देशानुसार, सुखपूर्वक, जहाँतक हो सके सत्सङ्गमें विचरण करते हुए इस मोक्षपथके क्रमका तबतक बुद्धिमान् पुरुष विचार करे, जबतक उसे आत्मविश्रान्ति प्राप्त न हो जाय। गृहस्थ हो या संन्यासी, जो तुरीयावस्थाकी विश्रान्तिसे युक्त है तथा संसार-सागरसे निवृत्त हो चुका है, वह चाहे जागतिक जीवनमें रहे या न रहे, उसे करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं। श्रुति-स्मृतिके भ्रमजालसे उसे कोई मतलब नहीं। मन्दराचलसे विहीन (क्षोभरहित) समुद्रके समान वह

आत्मस्थ होकर स्थित रहता है'॥ २९—४१॥

'जब त्वमात्मक दृश्यको आत्मरूप देखनेवाली शुद्ध सर्वात्मवेदना उदय होती है, तब दिशा और कालमें फैला हुआ सारा बाह्य जगत् चिद्रूपात्मक प्रतीत होता है। इस प्रकार जहाँ जिस रूपमें आत्मा समुल्लसित होता है, वहाँ शीघ्र उसी रूपमें वह स्थित हो जाता है और तद्रूपमें ही विराजमान होता है। जो कुछ यह समस्त स्थावर और जङ्गमात्मक जगत् दिखलायी देता है, वह प्रलयकालमें उसी प्रकार विनाशको प्राप्त हो जाता है, जैसे सुषुप्तिमें स्वप्न विलीन हो जाता है। आत्मा ऋत (यज्ञ)-स्वरूप है, परब्रह्म है, सत्यस्वरूप है—इत्यादि संज्ञाएँ महात्माओं तथा ज्ञानीजनोंने व्यवहारके लिये कल्पित की हैं। जिस प्रकार 'कङ्कण' शब्द और उसका अर्थ स्वर्णसे पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता तथा कङ्कणमें स्थित स्वर्ण कङ्कणसे पृथक् सत्ता नहीं रखता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्दका अर्थ परब्रह्म ही है। उस परब्रह्मने जगत्के रूपमें यह इन्द्रजाल फैलाया है। द्रष्टाका दृश्यके अन्तर्भूत होकर रहना ही बन्धन कहलाता है। दृश्यके वशमें होनेसे द्रष्टा बद्ध होता है और दृश्यके अभावमें वह मुक्ति प्राप्त करता है। जगत् और मैं-तू इत्यादिरूप जो सृष्टि है, वह दृश्य कहलाती है। संसारमें सारा प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मनके द्वारा ही फैलता है; जबतक मनकी यह कल्पना चलती रहती है, तबतक मोक्षके दर्शन नहीं होते। यह विश्व स्वयम्भू ब्रह्माकी मानसिक सृष्टि है, अतएव यावत् परिदृश्यमान जगत् मनोमय ही है। बाहर अथवा हृदयके भीतर, कहीं भी मन सद्रूपमें अवस्थित नहीं है। जो विषयोंका भान होना है, वही मन कहलाता है। सङ्कल्प करना ही मनका लक्षण है, मन सङ्कल्परूपमें ही रहता है; अतएव जो सङ्कल्प है, वही मन है—यह जान लेना चाहिये। किसीने कभी सङ्कल्प और मनको पृथक् नहीं किया, सारे सङ्कल्पोंके गल जानेपर केवल आत्मस्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। मैं, तू और जगत् इत्यादि दृश्य-प्रपञ्चके प्रशान्त हो जानेपर, दृश्य जब सत्ताको (परतत्त्वको) प्राप्त होता है, तभी वैसा कैवल्य प्राप्त होता है। जब महाप्रलयके समय समस्त दृश्य सत्ताहीन हो जाता है, उस समय सृष्टिके पूर्वकालमें केवल शान्त आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। जो आत्मसूर्य कभी अस्त नहीं होते, जो जन्मरहित तथा सर्वदोषविवर्जित देव हैं, सर्वदा सर्वकर्ता तथा सर्वस्वरूप हैं, जहाँ वाणी जाकर लौट आती है, जिन्हें मुक्त पुरुष ही जानते हैं तथा जिनकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पित हैं, स्वाभाविक नहीं, वे ही परमात्मा कहलाते हैं॥ ४२—५७॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा (भौतिक) आकाश है। हे मुनि! आकाश और चित्ताकाशसे भी सूक्ष्मतर चिदाकाशको जानो। मुनिपुङ्गव! एक देशसे दूसरे देशमें जानेपर जो बीचमें चित्तका व्यवधान है, उस (बाध)-का निमेष होनेपर चिदाकाश ही अवशिष्ट रहता है, यह जानना चाहिये। उस चिदाकाशमें यदि समस्त सङ्कल्पोंको निरस्त करके स्थित होते हो तो निःसन्देह सर्वात्मक शान्त पदको प्राप्त होओगे। चिदाकाशमें स्थित होनेपर जो सुन्दर औदार्य और वैराग्य-रससे युक्त आनन्दमयी अवस्था प्राप्त होती है, उसे समाधि कहते हैं। दृश्य पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है—जब इस प्रकारका बोध होता है तथा राग-द्वेषादि दोष क्षीण हो जाते हैं, उस समय अभ्यासबलसे जो एकाग्र-रति उत्पन्न होती है, उसे समाधि कहते हैं। दृश्यकी सत्ताका अभाव जब बोधमें आता है, तब वही निश्चयपूर्वक ज्ञानका स्वरूप है। वही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही केवलीभाव अर्थात् आत्मकैवल्य है; उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है। जिस प्रकार उन्मत्त ऐरावत हाथीका सरसोंके एक कोनेके छिद्रमें बाँधा जाना सम्भव नहीं, सिंहोंके साथ एक धूलिकणके कोटरमें मच्छरोंका युद्ध करना असम्भव है तथा कमलकी पंखड़ीमें स्थापित सुमेरुपर्वतका भ्रमरशिशुके द्वारा निगला जाना असम्भव है, उसी प्रकार निदाघ! इस जगत्का अस्तित्वमें आना सम्भव नहीं; इसे तुम केवल भ्रमात्मक जानो। राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे दूषित चित्त ही संसार है; वही चित्त जब दोषोंसे विनिर्मुक्त हो जाता है, तब इसे संसारका अन्त अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति कहते हैं। मनसे शरीरकी भावना करनेपर ही आत्मा शरीरी बनता है; जब वह देहवासनासे मुक्त होता है, तब देहके धर्मोंसे लिपायमान नहीं होता। मन कल्पको क्षण बना देता है और क्षणमें कल्पत्वको आभासित करता है। यह संसार केवल मनोविलासमात्र है—यह मेरी निश्चित मति है॥ ५८—६८॥

'जो दुश्चरितसे विरत नहीं हुआ है, जो अशान्त है, समाहित (एकाग्रचित्त) नहीं है तथा जिसका चित्त

शान्त नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यको आत्मबोध नहीं होता। प्रकृष्ट कैवल्यज्ञानके द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। उस आनन्दमय, द्वन्द्वातीत, निर्गुण, सत्स्वरूप, चिद्घन ब्रह्मको अपना स्वरूप समझ लेनेपर पुरुष कदापि भयको नहीं प्राप्त होता। जो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठतर, महान्से भी महान्, तेजोमय स्वरूपवाला, शाश्वत, शिवस्वरूप (कल्याणकारी), सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर, एवं सब देवताओंके द्वारा उपास्य है, वह ब्रह्म मैं हूँ—इस प्रकारका निश्चय महात्माओंके लिये मोक्षका हेतु बनता है। बन्ध और मोक्षके दो ही कारण बनते हैं, ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है। जीव और ईश्वररूपसे, ईक्षण (ब्रह्मके संकल्प)-से लेकर संकल्पके त्यागतक, सारी जड तथा चेतनात्मक सृष्टि ईश्वरके द्वारा कल्पित हुई है। जाग्रदवस्थासे लेकर मोक्षकी प्राप्तितक समस्त संसार जीवके द्वारा कल्पित है। कठोपनिषद्के त्रिणाचिकेताग्निसे लेकर श्वेताश्वतरके योगतकके ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्तिके आश्रित हैं। लोकायत अर्थात् चार्वाक-सिद्धान्तसे लेकर कपिलके सांख्यसिद्धान्ततकका दार्शनिक ज्ञान जीवभ्रान्तिके आश्रित है। अतएव मुमुक्षु पुरुषको जीव और ईश्वरके वाद-विवादमें बुद्धि नहीं लगानी चाहिये, बल्कि दृढ़ होकर ब्रह्मतत्त्वका विचार करना चाहिये। जो पुरुष समस्त दृश्य-जगत्को निर्विशेष चित्स्वरूप समझता है, वही अपरोक्ष ज्ञानवान् है। वही शिव है, वही ब्रह्मा है, वही विष्णु है। विषयोंका त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरुकी कृपाके बिना सहजावस्थाकी प्राप्ति दुर्लभ है। जिसकी बोधात्मिका शक्ति जाग्रत् हो गयी है, जिसने सारे कर्मोंका त्याग कर दिया है, ऐसे योगीको सहजावस्था स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। जबतक पुरुषको इसमें तनिक भी अन्तर जान पड़ता है, तबतक उसके लिये भय है—इसमें संशय नहीं। सर्वमय सच्चिदानन्दको ज्ञानचक्षुसे देखा जाता है; जिसे ज्ञानचक्षु नहीं, वह परब्रह्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे अन्धेको प्रकाशमान सूर्यनारायण नहीं दीखते। वह ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप ही है, सत्य ही प्रज्ञानका लक्षण है। अतएव ब्रह्मके परिज्ञानसे ही मर्त्य जीव अमरत्वको प्राप्त होता है। उस कार्य-कारणरूप ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर पुरुषके हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय दूर हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं॥ ६९—८२॥

'अनात्मताको त्यागकर, जागतिक स्थितिमें निर्विकार होकर, अनन्यनिष्ठासे अन्तःस्थ संवित् अर्थात् आत्मचैतन्यमें ही लीन रहो। मरुभूमिमें भ्रमसे दीखनेवाला सारा जल जैसे मरुस्थलमात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप यह समस्त जगत् आत्मविचारसे चिन्मय ही है। जो लक्ष्य-बुद्धि तथा अलक्ष्य-बुद्धिका त्याग करके केवल आत्मनिष्ठ होकर रहता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी स्वयं साक्षात् शिव है। जगत्का अधिष्ठान अनुपम है, वाणी और मनकी पहुँचके परे है; नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अव्ययस्वरूप है। यह संसार सर्वशक्तिमान् महेश्वरका मनोविलासमात्र है। संयम और असंयमके द्वारा जागतिक प्रपञ्च शान्तिको प्राप्त होता है॥ ८३—८७॥

'मनोव्याधिकी चिकित्साके लिये तुमको मैं उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन वस्तुओंकी ओर मन जाता है, उन-उनका त्याग करता हुआ मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है। आत्माधीन होना, एकान्तप्रियता तथा अभिलषित जागतिक वस्तुके त्यागकी भावना जिसके लिये दुष्कर हो जाती है, उस पुरुष-कीटको धिक्कार है। केवल अपने प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाले अपनी अभिलषित वस्तुके त्यागरूप मनःशान्तिके अतिरिक्त दूसरी शुभ गति नहीं है। सङ्कल्पहीनताके शस्त्रसे जब इस चित्तको काट दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप, सर्वान्तर्यामी, शान्त, परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। प्रपञ्चकी भावनासे मुक्त होकर, महान् बुद्धिसे युक्त होकर, चित्तका निरोध करके स्थिरभावसे अपनेको चिन्मात्रमें स्थित करो। श्रेष्ठ पौरुष अर्थात् अभ्यास और वैराग्यका आश्रय लेकर तथा चित्तको अचित्तावस्था अर्थात् निरुद्धावस्थामें ले जाकर हृदयाकाशमें ध्यान करते हुए बारम्बार चेतनमें लगे हुए चित्तरूपी चक्रकी धारसे मनको मार दो। तब तुम निःशङ्क हो जाओगे और कामादिरूपी शत्रु तुम्हें बाँध न सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे पदार्थ मेरे हैं—यह भावना ही मन है; इन भावनाओंके त्यागरूपी दावसे मनका नाश किया जाता है। जिस प्रकार शरद्के आकाशमें छिन्न-भिन्न बादलोंके समूह वायुके वेगसे विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार विचारके द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे

प्रलयकालीन उनचास पवन बहें अथवा सारे समुद्र मिलकर एकार्णवरूप हो जायँ, बारहों आदित्य तपने लगें, तथापि मनोविहीन पुरुषकी कोई क्षति नहीं हो सकती। केवल सङ्कल्पहीनतारूपी एक साध्यसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तत्पदका आश्रय लेकर सङ्कल्पहीनताके विस्तृत साम्राज्यमें स्थित हो जाओ। कहीं भी अचञ्चल मन नहीं दिखलायी देता। चञ्चलता मनका धर्म है, जैसे अग्निका धर्म उष्णता है। यही चञ्चला स्पन्दनशक्ति चित्तत्वमें स्थित है अर्थात् चित्तका धर्म है; इसी मानसिक शक्तिको जगत्-प्रपञ्चका स्वरूप समझना चाहिये। जो मन चञ्चलताहीन हो जाता है, वह अमृतरूप कहलाता है; वही तप है। उसे ही शास्त्रीय सिद्धान्तमें मोक्ष कहते हैं। मनकी जो चञ्चलता है, वह अविद्या है; वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपिणी उस वासनाको विचारके द्वारा नष्ट करना चाहिये॥ ८८—१०२॥

'निष्पाप मुनि! पुरुषार्थके द्वारा जिस लक्ष्यमें मनको लगाओ, उसे प्राप्तकर अर्थात् सविकल्प समाधिमें स्थित हो निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करो। अतएव प्रयत्नपूर्वक चित्तको चित्तके द्वारा वशमें करके, शोकहीन अवस्थाके आश्रयसे, आतङ्कसे मुक्त होकर शान्ति लाभ करे। मनका पूर्ण निरोध करनेमें विषयविहीन मन ही समर्थ होता है। राजाको पराजित करनेके कार्यमें राज्यविहीन राजा ही समर्थ होता है। जिन्हें तृष्णारूपी ग्राहने पकड़ रखा है, जो संसार-समुद्रमें गिरे हुए हैं, भँवरोंके जालमें पड़कर लक्ष्यसे दूर भटक रहे हैं, उनको बचानेके लिये अपना विषयविहीन मन ही नौकारूप है। ऐसे मनके द्वारा इस भारी बन्धनरूप मनके जालको काट डालो और स्वयं संसारसागरके पार हो जाओ; दूसरेके द्वारा यह समुद्र पार नहीं किया जाता। अन्तःकरणको वासित (आच्छादित) करनेवाली मन-नामकी वासना जब-जब उदित हो, तब-तब प्राज्ञ (बुद्धिमान्) पुरुष उसका त्याग करे। इससे अविद्याका नाश होता है। एक भोगवासनाका पहले त्याग करो, उसके बाद भेद-वासनाका त्याग करो, उसके बाद भावाभाव दोनोंका त्याग करके विकल्पहीन होकर सुखी हो जाओ। इस मनका नाश ही अविद्यानाश कहलाता है। मनके द्वारा जो कुछ भी अनुभवमें आता हो, उस-उसमें आस्था न होने दो। आस्थाका त्याग कर देना ही निर्वाण है और आस्थाको पकड़े रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञाविहीन हैं, उन्हींमें अविद्या विद्यमान रहती है। सम्यक् प्रज्ञावान् पुरुष नाममात्रके लिये भी कहीं अविद्याको अङ्गीकार नहीं करते। इस दुःख-कण्टकसे आकीर्ण संसाररूपी भ्रमजालमें तभीतक अविद्या अपने साथ शरीरीको निरन्तर भ्रमाती है, जबतक इसको नष्ट करनेवाली मोहनाशिका आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा स्वयं उत्पन्न नहीं होती। अविद्या जब परतत्त्वकी ओर अवलोकन करती है, तब इसका अपने-आप विनाश हो जाता है। सर्वात्मबोध दृष्टिगत होनेपर अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है। इच्छामात्र अविद्याका स्वरूप है, इच्छाके पूर्णतः नाशको ही मोक्ष कहते हैं और मुनि! इच्छाका नाश सङ्कल्पहीन होनेपर ही सिद्ध होता है॥ १०३—११६॥

'चित्ताकाशमें वासनारूपी रजनीके तनिक भी क्षीण होनेपर, चेतनारूपी सूर्यके प्रकाशसे कलिरूपी तम क्षीणताको प्राप्त हो जाता है। चित्त जब विषयोंके पीछे नहीं पड़ता तथा सामान्यतः सर्वगामी बन जाता है, तब चित्तकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा और परमेश्वर नामसे अभिहित होती है। यह सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है। वह नित्य और चिद्घनस्वरूप है। वह अव्यय है। इसके सिवा जो दूसरी मन नामकी कल्पना है, वह कहीं है ही नहीं। केवल भ्रममात्र है। इस त्रिलोकीमें न कोई जन्मता है न मरता है। ये जो भावविकार दीख पड़ते हैं, इनका कहीं अस्तित्व नहीं है। एकमात्र, केवल आभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय और चित्तके विषयोंके पीछे न दौड़नेवाले केवल चिन्मात्रकी ही सत्ता यहाँ है। उस नित्य, व्यापक, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रवशून्य, शान्त, शमस्वरूपमें स्थित निर्विकार चिदात्मामें स्वयं चित् ही जो स्वभावानुसार सङ्कल्प करके दौड़ता है, वह चैत्य अर्थात् चित्की सङ्कल्पावस्था स्वयं दोषरहित होते हुए भी मनन करनेके कारण मन कहलाती है। अतएव सङ्कल्पके द्वारा सिद्ध मन सङ्कल्पके द्वारा ही विनाशको प्राप्त होता है'॥ ११७—१२३॥

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ, इस सङ्कल्पके सुदृढ़ हो जानेसे मन बन्धनमें पड़ता है तथा 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस सङ्कल्पके सुदृढ़ होनेपर मन मुक्त हो जाता है। 'मैं दुबला हूँ, दुःखग्रस्त हूँ, मैं हाथ-पैरवाला हूँ'—इस भावके अनुकूल व्यवहारसे जीव बन्धनमें पड़ता है। 'मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्वमें स्थित

मुझको बन्ध कहाँ!'—इस प्रकारके व्यवहारमें लीन मन मुक्त हो जाता है। 'मैं मांस नहीं, मैं अस्थि नहीं, मैं देहसे परे दूसरा ही तत्त्व हूँ'—इस प्रकारका निश्चय कर लेनेपर जिसके अन्तःकरणसे अविद्या क्षीण हो गयी है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है। अनात्म पदार्थमें आत्मभावना होनेसे यह अविद्या कल्पनामात्र है। परम पुरुषार्थ अर्थात् अभ्यास और वैराग्यका आश्रय लेकर बहुत बुद्धिमत्तापूर्वक, यन्त्रसे भोगकी इच्छाका दूरसे ही त्याग करके निर्विकल्प होकर सुखी हो जाओ। 'मेरा पुत्र, मेरा धन, मैं वह हूँ, यह हूँ, यह मेरा है'—यह सब वासना ही इन्द्रजाल फैलाकर विविध खेल कर रही है। तुम अज्ञ मत बनो, तुम ज्ञानी बनो; सांसारिक भावनाको नष्ट कर दो। अनात्म पदार्थमें आत्मभावना करके क्यों मूर्खकी भाँति रो रहे हो। यह मांसका पिण्ड, अपवित्र, मूक, जड शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिये बलात् दुःख-सुखसे अभिभूत हो रहे हो? अहा! कितने आश्चर्यकी बात है कि जो ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्योंने भुला दिया है। तुम कर्तव्य-कर्मोंमें रत रहते हुए मनको कभी उनके प्रति रागानुरञ्जित मत होने दो। अहा! कैसी आश्चर्यकी बात है कि कमलनालके तन्तुओंसे पर्वत बाँध दिये गये हैं! जो अविद्या है ही नहीं, उसीके द्वारा यह विश्व अभिभूत हो रहा है। उस अविद्याके कारण तृणके समान तुच्छ जाग्रत् आदि तीनों जगत् वज्रवत् हो रहे हैं'॥ १२४—१३४॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अध्याय

ऋभुका उपदेश चालू; अज्ञान एवं ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

महर्षि ऋभु बोले—'तात! इसके आगे मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ठीक-ठीक सुनो। अज्ञानकी सात भूमिकाएँ होती हैं और ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ होती हैं। इनके बीच असंख्य दूसरी भूमिकाएँ उत्पन्न होती हैं। स्वरूपमें अवस्थित होना मुक्ति है। अहं-भावना ही स्वरूपसे च्युत होना है। शुद्ध सत्तामात्र संवित् ही आत्माका स्वरूप है; उससे जो विचलित नहीं होते, उनमें अज्ञानसे उत्पन्न राग-द्वेष आदि दूषित भाव नहीं होते। स्वरूपसे च्युत होकर वासनार्थ जो चित्में डूबना है, उससे बढ़कर कोई दूसरा मोह न हुआ है और न होगा। एक विषयसे दूसरे विषयको जाते समय जो मध्यमें स्थिति होती है, वह ध्वस्तमननके आकारवाली स्वरूपस्थिति कहलाती है। सारे सङ्कल्पोंकी सम्यक् शान्तिसे शिलाके समान जो निश्चेष्ट स्थिति होती है, जो जाग्रत्-अवस्था तथा स्वप्नावस्थासे विनिर्मुक्त होती है, वह परा स्वरूपस्थिति कहलाती है। अहंताके क्षीण हो जानेपर, शान्त, चेतन तथा भेदभावसे शून्य जो चित्तकी अवस्था होती है, वह स्वरूपस्थिति कहलाती है॥ १—७॥

'मोह सात प्रकारका होता है—प्रथम बीज-जाग्रत्- अवस्था, दूसरा जाग्रत्-अवस्था, तीसरा महाजाग्रत्-अवस्था, चौथा जाग्रत्स्वप्न अवस्था, पाँचवाँ स्वप्नावस्था, छठा स्वप्नजाग्रत्-अवस्था और सातवाँ सुषुप्ति अवस्था। फिर, ये एक-दूसरेसे श्लिष्ट होकर अनेक रूप धारण करते हैं। अब इनके पृथक्-पृथक् लक्षण सुनो। प्रथम, जो नामरहित निर्मल चेतनमें चित्की आगे होनेवाली चित्त, जीव आदि नाम, शब्द तथा अर्थकी पात्रतासे युक्त अवस्था होती है, वह बीजरूपमें स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज-जाग्रत् कहलाती है। यह ज्ञाताकी नवीन अवस्था होती है; अब तुम जाग्रत्की सम्यक् स्थितिकी बात सुनो। बीज-जाग्रत्-अवस्थाके बाद 'यह मैं हूँ, यह मेरा है'—अपने भीतर जो ऐसी प्रतीति होती है, वह अतिरिक्त भावनाओंसे पहले होनेवाली मोहकी दूसरी जाग्रत्-अवस्था कहलाती है। 'यह वह पुरुष है, मैं यह हूँ, वह मेरी वस्तु है' यह पूर्वजन्मोंका उदित हुआ पुष्ट प्रत्यय महाजाग्रत् कहलाता है। अरूढ़ अथवा रूढ़, सर्वथा मनोमय, जो मनकी काल्पनिक सृष्टि जाग्रदवस्थामें होती है, उसे जाग्रत्स्वप्न कहते हैं। एक चन्द्रमें दो चन्द्रोंका भान होना, शुक्ति (सीप)-में रजतका भान होना, मृगतृष्णामें जलका भान होना—इत्यादि भेदसे अभ्यासको प्राप्त हुआ जाग्रत्स्वप्न अनेक प्रकारका होता है। थोड़ी देरतक मैंने देखा, अब यह दृष्टिगत नहीं हो रहा है—जिस अवस्थासे जागनेपर मनुष्यको इस प्रकारका परामर्श (स्मृति) होता है, वह स्वप्न कहलाता है।

चिरकालतक साक्षात्कार न होनेके कारण जो पूर्ण विकासको नहीं प्राप्त हुआ, बड़ी-बड़ी बातोंवाला, देरतक टिकनेवाला स्वप्न जाग्रत्के समान ही उदित होता है, वह जाग्रत्-अवस्थामें भी परिस्फुरित होनेवाला स्वप्न स्वप्नजाग्रत् कहलाता है। इन छः अवस्थाओंका परित्याग कर जीवकी जो जडात्मक अवस्थिति होती है, वह आनेवाले दुःखबोधसे युक्त अवस्था सुषुप्ति कहलाती है। उस अवस्थामें जगत् अन्तस्तममें लीन हो जाता है। ब्रह्मन्! मैंने अज्ञानकी इन सात भूमिकाओंको बतलाया। इनमें एक-एक सैकड़ों प्रकारकी विविध ऐश्वर्योंसे युक्त अवस्थाओंका रूप धारण करती है। अब हे निष्पाप पुत्र! ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ हैं, उनको सुनो, जिनको जान लेनेपर पुरुष पुनः मोहपङ्कमें नहीं पड़ता॥ ८—२१॥

'सिद्धान्तवादी लोग योग-भूमिकाओंके बहुतेरे भेद बतलाते हैं, परंतु मुझे तो ये ही कल्याणप्रद सात भूमिकाएँ अभीष्ट हैं। इस प्रकार इन सात भूमिकाओंमें होनेवाले अवबोधको 'ज्ञान' कहते हैं और इन भूमियोंके पश्चात् होनेवाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है। शुभेच्छा नामकी पहली ज्ञानभूमि कहलाती है। दूसरी विचारणा कहलाती है। तीसरी तनुमानसी, चौथी सत्त्वापत्ति, उसके बाद पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना तथा सातवीं तुर्यगा है। इनके अन्तर्गत वह मुक्ति है, जिसे प्राप्तकर पुनः शोक नहीं करना पड़ता। अब तुम इन भूमिकाओंकी परिभाषा सुनो। 'मैं मूढ़ बनकर क्यों बैठा हूँ? शास्त्र तथा संतजनोंसे मैं जिज्ञासा करूँगा'—इस प्रकारकी वैराग्यसे पूर्व जो इच्छा होती है, उसे ज्ञानीजन शुभेच्छा कहते हैं। शास्त्र तथा संतजनोंके सम्पर्कके कारण अभ्यास और वैराग्यके साथ-साथ जो सदाचरणकी प्रवृत्ति है, वह विचारणा कहलाती है। विचारणा और शुभेच्छाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें अनुरक्ति जब क्षीणताको प्राप्त होती है, तब वह तनुमानसी अवस्था कहलाती है। इन तीनों भूमियोंके अभ्याससे वैराग्यके वशीभूत हो जब चित्त शुद्ध सत्त्वस्वरूपमें स्थित होता है, तब उसे सत्त्वापत्ति कहते हैं। इन चारों भूमियोंके अभ्याससे सत्त्वारूढ़ होकर चमकनेवाली जो संसर्गहीन कला है, वह असंसक्ति कहलाती है। इन पाँचों भूमियोंके अभ्यासके फलस्वरूप दृढ़तापूर्वक अपने आत्मामें ही रमण करते रहनेसे तथा आन्तर और बाह्य पदार्थोंकी भावना नष्ट हो जानेसे जिसमें दूसरोंके द्वारा चिरकालतक प्रयत्न करनेपर बाह्यज्ञान होता है, वह पदार्थाभावना नामकी षष्ठ भूमिका है। इन छः भूमियोंमें चिरकालतक अभ्यास करनेके बाद भेदबुद्धिका अभाव हो जानेके कारण जो आत्मभावमें एकनिष्ठा हो जाती है, वह तुर्यगा स्थिति कहलाती है। यही तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषकी होती है। इसके पश्चात् जो तुर्यातीत अवस्था है, वह विदेहमुक्तिका विषय है। निदाघ! जो महाभाग्यवान् पुरुष सप्तमी भूमिकाका आश्रय ले चुके हैं, वे आत्मामें रमण करनेवाले महात्मा महान् पदको प्राप्त हो गये हैं। जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखके अनुभवकी स्थितिमें नहीं पड़ते। वे कभी कर्तव्य-कर्मोंमें लगे रहते हैं और कभी उनसे अलग हो जाते हैं। अपने पासके लोगोंके द्वारा चेताये जानेपर सोकर जगे हुएके समान उठकर, सनातन आचारोंका आचरण करने लगते हैं। ये सात भूमिकाएँ बुद्धिमान् पुरुषोंको ही ज्ञात होती हैं। इन ज्ञानावस्थाओंको प्राप्तकर जो पशु, म्लेच्छ आदि हैं, वे भी देह रहते या देह त्यागनेके बाद मुक्तिको प्राप्त करते हैं—इसमें सन्देह नहीं है। हृदयकी गाँठोंका खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान होनेपर ही मुक्ति होती है॥ २२—४०॥

'मृगतृष्णामें जलकी भ्रान्तिके समान अनात्ममें आत्मबुद्धि आदि अविद्याकी शान्ति ही मुक्ति है; जो मोहसागरसे पार हो गये हैं, उन्होंने ही परमपदको प्राप्त किया है। वे आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिमें लगे हुए पुरुष इन भूमिकाओंमें स्थित होते हैं। मनकी पूर्णतः शान्तिके उपायको योग कहते हैं। उस योगकी सात भूमिकाएँ हैं और उन भूमिकाओंको ऊपर बतला आये हैं। इन भूमिकाओंका लक्ष्य है ब्रह्मपदकी प्राप्ति—जहाँ तू, मैं, अपने और परायेका कोई भाव नहीं रहता, न कोई भावात्मक बुद्धि होती है और न भावाभावका चिन्तन होता है। सब शान्त, आलम्बनशून्य, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान न होनेवाला, अनिर्वचनीय, कारणहीन, न सत् न असत्, न मध्य न अन्त, सम्पूर्ण नहीं और सम्पूर्ण भी, मन और वाणीके द्वारा अग्राह्य, पूर्ण-से-पूर्ण, सुखसे सुखतरस्वरूप, संवेदनमें न आनेवाला, पूर्ण शान्त, आत्मसाक्षात्कारस्वरूप तथा व्यापक ब्रह्मका स्वरूप है। समस्त जागतिक पदार्थोंकी सत्ता आत्मसंवेदनके अतिरिक्त दूसरी कुछ नहीं है॥ ४१—४७॥

'द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध होनेपर बीचमें दृष्टिका जो स्वरूप होता है, वह द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शनकी त्रिपुटीसे

वर्जित साक्षात्कारस्वरूप स्थिति होती है। चित्त जब एक देशसे दूसरे देशको जाता है, तब बीचमें जो चित्तकी स्थिति होती है, उस जाड्यविहीन संविद्रूप मननमें सदा तन्मय रहो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे परे जो तुम्हारा सनातन स्वरूप है, उस जड-चेतनरहित स्थितिमें सदा तन्मय रहो। एक जडताको छोड़कर—क्योंकि वह पत्थरका हृदय है, पाषाणरूपताकी प्राप्ति है—उससे रहित जो अमनस्क स्थिति है, सदा उसमें तन्मय रहो। चित्तको दूरसे त्यागकर जिस किसी स्थितिमें हो, उसीमें स्थिर रहो। परमात्मतत्त्वसे पहले मन निकला। तत्पश्चात् मनसे ही विकल्पजालसे पूर्ण यह जगत् विस्तृत हुआ। हे विप्र! शून्यसे भी शून्य उत्पन्न होता है, जैसे आकाश शून्य है और उससे सुन्दर लगनेवाली नीलिमा उल्लसित होती है। सङ्कल्पके नाश हो जानेके कारण जब चित्त गलित हो जाता है, तब संसारके मोहका कुहासा भी गल जाता है। तब शरद्के आनेपर स्वच्छ आकाशके सदृश वह अजन्मा, सबका आदि और अनन्त एक चिन्मात्र विभासित हो उठता है। बिना कर्ताके और बिना रंगके आकाशमें चित्र उठ आया। बिना द्रष्टाके, स्वानुभव, निद्राविहीन स्वप्नदर्शन हो रहा है। साक्षिस्वरूप, समानरूपसे स्वच्छ, निर्विकल्प, दर्पण-जैसे चिदात्मामें बिना इच्छाके तीनों जगत् प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ब्रह्म एक है, चिदाकाशरूप है, सर्वस्वरूप है और अखण्डित है—चित्त-चाञ्चल्यकी शान्तिके लिये यत्नपूर्वक यह भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार एक मोटी शिलापर रेखाएँ और उपरेखाएँ खिंची होती हैं, उसी प्रकार त्रैलोक्यसे खचित एक ब्रह्मको देखना चाहिये। किसी दूसरे कारणके न होनेपर यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ। अब मैंने जो जानना था, उसे जान लिया; जो अद्भुत देखना था, उसे देख लिया। चिरकालका थका मैं विश्रामको प्राप्त हुआ। चिन्मात्रके अतिरिक्त और कुछ है नहीं, इस प्रकार समझो। इस समस्त जागतिक लीलासे विरत होकर तथा असन्दिग्ध-भावसे चिन्मात्रको देखो॥ ४८—५९॥

'जिन्होंने सङ्कल्प-जालको निरस्त कर दिया है, जो चित्तत्वहीन परमपदको प्राप्त हैं, वे ही समस्त दोषोंसे निवृत्त हो ब्रह्मको प्राप्त करते हैं; जो विमनस्कताको प्राप्त हो चुके हैं, वे शान्त चित्तवाले महाबुद्धिमान् हैं। वेदान्तविचारशील प्राणी, जिनके चित्तकी वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं, मनश्चिन्तनके त्यागका अभ्यास करते-करते जिनका मन कुछ परिपक्व हो गया है, जो मोक्षका उपाय खोजनेवाले पुरुष हेय तथा उपादेय—दोनों प्रकारके दृश्योंका त्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मतत्त्वके साक्षात्कारमें लगे हैं तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्चको नहीं देखते, जो विशेषरूपसे ज्ञातव्य परम तत्त्वमें जागरूक होकर जीवन धारण कर रहे हैं, जो रसमय तथा रसहीन पदार्थोंमें अत्यन्त परिपक्व वैराग्यके कारण घने मोहसे युक्त संसार-पथमें सोये हुए हैं, वैराग्यकी तीव्रताके कारण पक्षीके जालके समान जिनका संसारवासनाका जाल टूट गया है तथा हृदयकी ग्रन्थि शिथिल हो गयी है, ऐसे साधकोंका स्वभाव विज्ञानके द्वारा उसी प्रकार संशुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फलके द्वारा जल स्वच्छ हो जाता है। मन जब रागविहीन, अनासक्त, द्वन्द्वातीत तथा निरालम्ब हो जाता है, तब वह पिंजड़ेसे छूटे हुए पक्षीके समान मोहजालसे बाहर निकल जाता है। सन्देहरूप दुरात्मापन जिनका शान्त हो गया है, जो प्रपञ्चात्मक कुतूहलसे विरत हैं, उनका चित्त सब प्रकारसे पूर्ण होकर पूर्णचन्द्रके समान सुशोभित होता है॥ ६०—६८॥

'न मैं हूँ और न यहाँ दूसरा कुछ है; मैं सब दोषोंसे रहित ब्रह्मस्वरूप हूँ—जो इस प्रकार सत् और असत्के मध्यसे देखता है, वही वस्तुतः देखता है। जिस प्रकार सहज ही प्राप्त हुए दर्शन, द्रष्टा तथा दृश्योंमें मन बिना रागके ही जाता है, उसी प्रकार धीर बुद्धिवाले कर्तव्य-कर्मोंमें बिना आसक्तिके ही लगे रहते हैं। भलीभाँति जानकर भोगा गया भोग उसी प्रकार तुष्टिका कारण बनता है, जिस प्रकार जानकर सेवा किया गया चोर चोरी छोड़कर मैत्रीका ही निर्वाह करता है। जिसकी मनमें शङ्का भी नहीं थी, ऐसे गाँवके मार्गमें आ जानेपर पथिक जिस दृष्टिसे उसे देखता है, उसी दृष्टिसे ज्ञानी पुरुष भोगके ऐश्वर्योंको देखते हैं। निग्रह किया हुआ मन अनायास प्राप्त हुए थोड़े-से भी भोगको, जो विस्तारको नहीं प्राप्त हुआ है, क्लेशदायक होनेके कारण, बहुत अधिक समझता है। बन्धनसे मुक्त हुआ राजा भोजनके एक ग्रासमात्रसे सन्तुष्ट हो जाता है; परंतु वह यदि शत्रुके द्वारा आबद्ध न हो तथा आक्रान्त न हो तो राष्ट्र भी उसके लिये उपेक्षणीय हो जाता है। हाथसे हाथको संमर्दितकर, दाँत-से-दाँत पीसकर तथा अङ्गों-से-अङ्गोंको दबाकर, अर्थात् अपने सम्पूर्ण पराक्रम और उत्साहसे, पहले मनपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा

करनी चाहिये। इस संसार-समुद्रमें मनपर विजय करनेके अतिरिक्त कोई दूसरी गति नहीं है। इस महानरकके साम्राज्यमें दुष्कृतरूपी मतवाले हाथी घूम रहे हैं। आशारूपी बाणों और बरछोंसे सजे-धजे इन्द्रियरूपी शत्रुओंका जीतना दुष्कर है। जिन्होंने चित्तके दर्पको नष्ट कर दिया है तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओंको वशमें कर लिया है, उनकी भोग-वासना उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे हेमन्त-ऋतुमें कमलका पौधा नष्ट हो जाता है। रात्रिमें वेतालके समान हृदयमें वासनाका तभीतक निवास है, जबतक एकाग्रताके अभ्यासद्वारा मनको जीत नहीं लिया जाता। विवेकी पुरुषका मन अभीष्ट कार्य करनेके कारण भृत्यके समान है, सारे प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके कारण मन्त्रीरूप है और मेरे विचारसे समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण सामन्तरूप है। मेरे विचारसे मनीषी पुरुषका मन लालन करनेके कारण स्नेहशील ललनास्वरूप है तथा पालन करनेके कारण पालन करनेवाला पिता है। मनरूपी पिता शास्त्रदृष्टिसे तथा आत्मप्रकाश, आत्मबुद्धि एवं आत्मानुभवके द्वारा परम सिद्धिको प्रदान करता है। अत्यन्त हृष्ट, अत्यन्त दृढ़, स्वच्छ, भलीभाँति वशमें किया हुआ, भलीभाँति जाग्रत्, आत्मगुणोंसे तेजस्वी बनाया हुआ मनोरम मनरूपी मणि हृदयमें सुशोभित होता है। ब्रह्मन्! भाँति-भाँतिके पङ्कोंसे मलिन इस मनरूपी मणिको सिद्धिके लिये विवेकरूपी जलसे धोकर आलोकवान् बनो। श्रेष्ठ विवेकका आश्रय लेकर बुद्धिसे सत्यका साक्षात् (निश्चय) करके, इन्द्रियरूपी शत्रुओंको पूर्णतः छिन्नकर संसार-सागरसे पार हो जाओ॥ ६९—८४॥

'केवल आस्थाको—संसारकी आशाको ही अनन्त दुःखोंका कारण जानो और सर्वत्र केवल अनास्थाको सुखका घर समझो। वासनाके सूत्रसे बँधा हुआ यह संसार बारम्बार होता है। वह प्रसिद्ध वासना अत्यन्त दुःखका कारण बनती है और सुखका उन्मूलन करनेके लिये आती है। जीव चाहे धीर हो, अत्यन्त बहुश्रुत हो, कुलीन हो, महान् हो, फिर भी वह तृष्णासे उसी प्रकार बँध जाता है, जैसे शृङ्खलासे सिंह बँध जाता है। परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर और भलीभाँति उद्यम करते हुए शास्त्रानुसार शान्तिपूर्वक आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिको नहीं प्राप्त करता। 'मैं ही अखिल विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे सिवा और कुछ नहीं है'—इस प्रकारके ज्ञानद्वारा होनेवाला अहंभाव ही श्रेष्ठ है। 'मैं समस्त प्रपञ्चसे अतीत हूँ, बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म हूँ'—ब्रह्मन्! इस प्रकारके ज्ञानसे जो अहंकार होता है, वह दूसरा शुभप्रद अहंभाव है और वह मोक्षका कारण बनता है, बन्धनका नहीं। ऐसा अहंभाव जीवन्मुक्त पुरुषोंको ही होता है। 'हाथ-पैर आदिसे युक्त यह शरीरमात्र मैं हूँ'—इस प्रकारका निश्चय तीसरा लौकिक अहङ्कार है और यह अत्यन्त तुच्छ है। यह अहङ्कारात्मक दुरात्मा जीव ही संसाररूपी दुःखद वृक्षका मूल है। इससे मारा गया प्राणी अधःपतनकी ओर ही दौड़ता है। इस दुःखद अहङ्कारको त्यागकर और चिरकालतक शुभ अहङ्कारकी भावनामें लगा हुआ प्राणी शमयुक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है। पहले कहे गये दो अलौकिक अहङ्कारोंको अङ्गीकार करके तीसरे दुःखद लौकिक अहङ्कारको त्याग देना चाहिये। पश्चात् उनको भी छोड़कर जो सब प्रकारके अहङ्कारोंसे रहित होकर स्थित है, वही उच्च पदको प्राप्त होता है॥ ८५—९६॥

'भोगकी इच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। मनकी उन्नति उसके विनाशमें है। मनोनाश महाभाग्यवान्का लक्षण है। ज्ञानी पुरुषके मनका नाश हो जाता है। अज्ञानीके लिये मन बन्धनरूप है। ज्ञानीका मन न आनन्दरूप है न आनन्दरहित है; न चल है, न अचल और न स्थिर ही है; वह न सत्रूप है, न असत्रूप ही और न इनके बीचकी ही स्थितिमें रहता है। जैसे चित्में प्रकाशित होनेवाला आकाश सूक्ष्मताके कारण दिखलायी नहीं देता, उसी प्रकार अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापी होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सारे सङ्कल्पोंसे रहित, सारी संज्ञाओंसे शून्य यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामोंसे व्यक्त किया जाता है। जो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें आकाशसे भी सौगुनी स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप (अवयवरहित) है एवं जो सकल एवं निर्मल संसारके रूपमें एकमात्र अपना ही दर्शन कराती है—इस प्रकारकी चित्, चेतनसत्ता न अस्त होती है न उदय होती है; न उठती है न स्थिर रहती है; न जाती है न आती है; न यहाँ है और न यहाँ नहीं है। वह चित् अर्थात् चेतनसत्ता विकल्परहित, निरालम्ब और निर्मल स्वरूपवाली है। गुरुको चाहिये कि प्रारम्भमें शम-दम आदि गुणोंके द्वारा शिष्यके अन्तःकरणको शुद्ध करे। पश्चात् 'यह सब कुछ ब्रह्मरूप है और तुम शुद्ध

ब्रह्मस्वरूप हो' ऐसा बोध प्रदान करे। अज्ञानी पुरुषको तथा जो अर्द्ध-जाग्रत् है, उसे जो कहता है कि 'सब ब्रह्म ही है', वह उसे महानरकजालमें ढकेल देता है। जिसकी बुद्धि जाग्रत् हो गयी है, भोगकी इच्छा नष्ट हो गयी है तथा जो सर्वथा आकाङ्क्षारहित हो गया है—ऐसे पुरुषको प्राज्ञ गुरु वेदान्तका यह उपदेश दे कि अविद्यारूप मल है ही नहीं। जिस प्रकार दीपकके होनेपर ही प्रकाश होता है, सूर्यनारायणके होनेपर ही दिन होता है, पुष्पके होनेपर ही सुगन्ध होती है, उसी प्रकार चित्—चेतनके ऊपर ही जगत्की स्थिति है। यह जगत् वास्तवमें है नहीं, केवल भासता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि निर्मल—आवरणशून्य हो जायगी, ज्ञानका सब ओर प्रकाश हो जायगा तथा तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे, तभी तुम मेरे उपदेशके बलाबलको ठीक-ठीक जान सकोगे'॥ ९७—१०७॥

'स्वार्थनाशके लिये उद्यम करना ही जिसका एकमात्र प्रयोजन है, ऐसी श्रेष्ठ अविद्याके द्वारा ही, ब्रह्मन्! सब दोषोंको हर लेनेवाली विद्याकी प्राप्ति होती है। अस्त्रके द्वारा अस्त्रका शमन होता है तथा मलके द्वारा मल धोया जाता है; विषके द्वारा विषका शमन होता है, शत्रुके द्वारा शत्रु मारा जाता है। इसी प्रकारकी यह भूतमाया है, जो अपने नाशसे ही हर्ष प्रदान करती है। इसका स्वरूप दिखलायी नहीं देता, दिखलायी देते ही यह नष्ट हो जाती है। परमार्थतः यह माया है ही नहीं—इस प्रकारकी दृढ़ भावनाके साथ 'सब ब्रह्म ही है'—ऐसी जो अन्तर्भावना होती है, वही मुक्ति प्रदान करती है। यह भेददृष्टि ही अविद्या है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये'॥ १०८—११३॥

मुने! (मायाके द्वारा) जो नहीं प्राप्त होता है, वह अक्षयपद कहलाता है। द्विज! यह माया किससे उत्पन्न हुई—यह तुम्हें नहीं विचारना है। 'मैं इसे किस प्रकार नष्ट करूँ'—यही तुम्हें विचार करना है। इसके क्षीण होकर नष्ट हो जानेपर तुम उस अक्षयपदको जान सकोगे। जहाँसे यह प्रकट होती है, जैसा इसका स्वरूप है, जिस प्रकार यह नष्ट होगी—अर्थात् निदान, लक्षण और शमनके उपायका विचार करते हुए, इस रोगके घर अर्थात् अविद्याकी चिकित्साके लिये पूरा प्रयत्न करो, जिससे यह जन्म अर्थात् आवागमनके कष्टोंमें तुम्हें बारम्बार न डाले और चित्रूपी समुद्र अपने-आपमें स्वच्छ आत्मपरिस्पन्दनके द्वारा विभासित हो उठे। 'वह चित्-सत्ता एक अखण्ड स्वरूपवाली है'—इस प्रकार अपने भीतर दृढ़ भावना करनी चाहिये। वह चित्-शक्ति चिन्मय समुद्रमें किञ्चित् क्षुभित हो रही है। समुद्रमें लहरोंके समान वहाँ स्वच्छ चिन्मय तरङ्ग ही उठ रहे हैं। अपने-आप आकाश-सरोवरमें जैसे वायु लहराता है, उसी प्रकार स्वात्मामें ही आत्मशक्तिसे आत्मा तरङ्गायमान होता है। सर्वशक्तिमत्ताके कारण इस प्रकारकी दैवी स्फुरणा क्षणमात्रके लिये होती है। देश, काल और क्रियाकी शक्ति जिसको चलायमान करनेमें समर्थ नहीं होती, वह आत्मशक्ति अपने स्वभावको जानकर उच्च अनन्त पदमें स्थित है। यह चित्-शक्ति जाननेमें न आनेके कारण परिमित-सी होकर रूपकी भावना करती है। उस परम आकर्षक-शक्तिके द्वारा जब इस प्रकार रूपकी भावना होती है, उसी समय उसके पीछे नाम और संख्या आदि दृष्टियाँ लग जाती हैं। ब्रह्मन्! विकल्पके रूपको धारण करनेवाला तथा देश, काल और क्रियाका आधारभूत जो चित्-शक्तिका रूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वह भी वासनाओंकी कल्पना करता हुआ अहङ्कारका रूप धारण करता है। अहङ्कार जब निश्चयात्मक एवं दोषयुक्त हो जाता है, तब वह बुद्धि कहलाता है और बुद्धि जब सङ्कल्पका रूप ग्रहण करती है, तब मननास्पद मन बनती है। मन जब घने विकल्पमें पड़ता है, तब शनैः-शनैः इन्द्रियरूप ग्रहण करता है। हाथ-पैरयुक्त शरीरको बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार जीव सङ्कल्प और वासनाकी रज्जुओंसे बँधकर दुःखजालमें फँसा हुआ क्रमशः अधोगतिको प्राप्त होता है। इस तरह शक्तिमय चित् घने अहङ्कारको प्राप्त होकर रेशम बनानेवाले कीड़ेके समान स्वेच्छासे बन्धनमें पड़ता है। अपने ही द्वारा कल्पित तन्मात्ररूपी जालके भीतर रहकर, शृङ्खलामें बँधे हुए सिंहके समान, चित्-शक्ति अत्यन्त विवशताको प्राप्त हो जाती है। आत्मा ही कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहङ्कार और कहीं चित्तके नामसे जाना जाता है। कहीं इसे प्रकृति कहते हैं और कहीं 'माया है' ऐसी कल्पना करते हैं। कहीं यह बन्धनके नामसे प्रसिद्ध है और कहीं पुर्यष्टक कहलाता है। कहीं इसे अविद्या कहते हैं और कहीं 'इच्छा' माना

जाता है। यह आशापाशका निर्माण करनेवाले अखिल विश्वको उसी प्रकार धारण करता है, जैसे भीतर फलविहीन वटबीज वटको धारण करता है॥ ११४—१३३॥

'चिन्तारूपी अग्निशिखासे दग्ध, क्रोधरूपी अजगरके द्वारा चबाये हुए, कामरूपी समुद्रके कल्लोलमें स्थित तथा अपने पितामह आत्माको भूले हुए इस मनका, ब्रह्मन्! कीचड़से फँसे हाथीके समान उद्धार करो। प्रपञ्चकी भावनासे व्याप्त इस प्रकारके जीवाश्रित भाव ब्रह्मके द्वारा लाखों, करोड़ों तथा असंख्य रूपोंमें कल्पित होकर पहले उत्पन्न हो चुके हैं और आज भी चारों ओर उत्पन्न हो रहे हैं तथा निर्झरसे उत्पन्न जलकणोंके समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ तो प्रथम ही उत्पन्न हो रहे हैं और कुछ भाव सौसे अधिक बार उत्पन्न हो चुके हैं; कोई असंख्य जन्म ग्रहण कर चुके हैं और किन्हींके दो-ही-तीन जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूपमें प्रकट हैं; कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, शिव, हरि एवं ब्रह्मारूप बन रहे हैं। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्ररूपमें स्थित हैं। कोई तृण, ओषधि, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्रके रूपमें हैं। कोई कदम्ब, नीबू, आम, ताड़ तथा तमाल-वृक्ष बन रहे हैं। कोई महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतोंका आकार धारण किये हुए हैं। कोई खारे समुद्र तथा कोई दूध., घृत, ईखके रस तथा जलकी राशिके रूपमें अवस्थित हैं। कोई विशाल दिशाओंका रूप धारण किये हुए हैं, कोई महान् वेगशाली नदियोंके रूपमें हैं। कोई हाथसे फेंके जानेवाले गेंदके समान मृत्युके द्वारा बारम्बार ताड़ित होकर आकाशमें ऊपर उठते और नीचे गिरते रहते हैं। कोई-कोई मूर्ख मनुष्य विवेकको प्राप्त करके भी सहस्रों जन्म भोगकर पुनः संसाररूपी सङ्कटमें पड़ते हैं। दिशा और कालके द्वारा अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व अपनी शक्तिसे सहज ही दिशा और कालके द्वारा आकलित जो शरीर ग्रहण करता है, वही जीवके पर्यायभूत वासनाके आवेशसे संकल्पोन्मुख चञ्चल मनका रूप धारण करता है। वह सङ्कल्पात्मिका मनःशक्ति क्षणमात्रमें निर्मल आकाशकी भावना करती है, उसमें शब्दबीज अङ्कुरोन्मुख रहता है। तत्पश्चात् वही मन और भी घनीभूत होनेपर घने स्पन्दनके क्रमसे वायुके स्पन्दनकी भावना करता है। उसमें स्पर्श-बीज अङ्कुरोन्मुख रहता है। उसके बाद दृढ़ अभ्यासके द्वारा शब्द और स्पर्शरूप आकाश और वायुके संघर्षसे अग्नि उत्पन्न होती है। वह रूपतन्मात्राके साथ मिलकर तीन गुणोंसे युक्त होती है। उन तीनों गुणोंके साथ संयुक्त हुआ मन रस-तन्मात्राका अनुभव करता हुआ क्षणमात्रमें जलकी शीतलताका चिन्तन करता है। इससे उसे जलका अनुभव होता है। पश्चात् उन चार गुणोंसे युक्त होकर मन दूसरे ही क्षण गन्ध-तन्मात्राकी भावना करता है, इससे उसे पृथ्वीका अनुभव होता है। इस प्रकार पाँचों तन्मात्राओंसे घिरकर सूक्ष्मताका त्याग करता हुआ वह आकाशमें अग्निकणोंके आकारमें स्फुरित शरीरको देखता है। वही अहङ्कारकी कलाओंसे युक्त और बुद्धिबीजसे समन्वित पुर्यष्टक कहलाता है, जो प्राणियोंके हृत्कमलमें मँडरानेवाले षट्पदके समान है। उसमें तीव्र संवेगके द्वारा तेजस्वी शरीरकी भावना करता हुआ मन उसी प्रकार स्थूलताको प्राप्त होता है, जैसे पाकके द्वारा बिल्वफल। स्वच्छ आकाशमें, मूषा (सोना गलानेके पात्र)-में पिघले सोनेके समान स्फुरित होकर वह तेज अपने स्वभावके द्वारा ही गठित होने लगता है। उसका ऊपरी भाग सिरके पिण्डके समान तथा अधोभाग पैरके समान हो जाता है तथा दोनों पार्श्वोंमें बाहुकी आकृतियाँ एवं मध्यमें उदरका आकार समयानुसार व्यक्त होकर शुद्ध शरीररूप धारण करते हैं। वे ही बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्यसे युक्त होकर सब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्मा बनते हैं॥ १३४—१५७॥

'भूत, भविष्य और वर्तमानको स्पष्ट देखनेवाले भगवान् ब्रह्माजी अपने उत्तम और सुन्दर शरीरको देखकर सोचने लगे कि इस चिन्मात्र आत्मस्वरूपी परमाकाशमें, जिसका ओर-छोर नहीं दिखायी देता, पहले क्या होना चाहिये। इस प्रकार चिन्तन करते ही तत्काल उन्हें निर्मल आत्म-दृष्टि प्राप्त हुई। उन्होंने अतीत कालके अनेकों सर्गोंको देखा तो समस्त धर्मों और गुणोंके सारे क्रम उन्हें स्मरण हो आये। उन्होंने लीलासे ही नाना प्रकारके आचारोंसे युक्त भाँति-भाँतिकी प्रजाको आकाशमें गन्धर्वनगरके समान सङ्कल्पसे उत्पन्न कर दिया। उनके स्वर्ग और अपवर्गके लिये तथा धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये अनन्त चित्र-विचित्र शास्त्रोंकी कल्पना की। ब्रह्मारूपी मनकी कल्पनासे जगत्की स्थिति होनेके कारण ब्रह्माके जीवनके

साथ ही इसकी स्थिति है, उनके नाशके साथ यह भी नाशको प्राप्त होता है। द्विजवर! वास्तवमें कहीं कोई न उत्पन्न होता है और न मरता है। सब कुछ मिथ्या दीख पड़ता है। यह विश्व-प्रपञ्च आशारूपी सर्पिणियोंकी पिटारी है। इसका त्याग करो। 'यह असत् है' यों जानकर मातृभावमें स्थित हो अर्थात् मैं ही इसका उत्पादक हूँ, ऐसी भावना करो। गन्धर्वनगर भूषित हो या अभूषित—वह जिस प्रकार तुच्छ है, उसी प्रकार अविद्याके अंशस्वरूप सुत-दारा आदिकी स्थिति है। फिर इनके लिये सुख-दुःख क्या करना। धन-दारा आदि प्रपञ्चका बढ़ना दुःखमय है। इसमें संतुष्ट होनेकी कोई बात नहीं है। मोह-मायाके बढ़नेपर भला, इस लोकमें किसको शान्ति मिलती है। जिन वस्तुओंकी अधिकतासे मूर्खको अनुराग होता है, उन्हींकी प्राप्तिसे प्राज्ञ पुरुषको वैराग्य उत्पन्न होता है। अतएव, तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहारोंमें जो-जो नष्ट होता जाय, उसकी उपेक्षा करते चलो और जो-जो प्राप्त होता जाय, उसे ग्रहण करते जाओ। जो भोग प्राप्त नहीं हैं, स्वभावतः उनकी इच्छा न करना तथा जो प्राप्त हैं, उनका उपभोग करना—यही पण्डितका लक्षण है। सत् और असत्के मध्यमें शुद्ध पदको जानकर तथा उसका अवलम्बन करके आभ्यन्तर तथा बाह्य दृश्योंको न तो ग्रहण करो और न त्याग करो। कर्ममें स्थित जिस ज्ञानी पुरुषको इच्छा और अनिच्छा समान हैं, उसकी बुद्धि जलमें पद्मपत्रके समान लिपायमान नहीं होती। ब्राह्मण! यदि ऐन्द्रिय विषयोंका विभव तुम्हारे हृदयमें स्पन्दित नहीं होता तो तुम ज्ञातव्य पदार्थको जानकर संसार-सागरसे समुत्तीर्ण हो गये। उच्चपदकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक वासनारूपी पुष्पोंसे गन्ध लेकर उससे शीघ्र ही अपनी चित्तवृत्तिको दूर हटा लो'॥ १५८—१७५॥

'वासनारूपी जलसे पूर्ण इस संसार-सागरमें जो प्रज्ञारूपी नौकापर आरूढ़ हैं, वे विद्वान् दूसरे पार पहुँच गये हैं। संसाररूपी समुद्रको जाननेवाले पुरुष सांसारिक व्यवहारका न तो त्याग करते हैं न उसकी आकाङ्क्षा ही करते हैं। वे सारे व्यवहारोंका अनासक्तरूपसे निर्वाह करते हैं। सत्तासामान्य अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतनका जो विषयोन्मुख होना है, उसीको विज्ञ पुरुष सङ्कल्पका अङ्कुर मानते हैं। वह सङ्कल्प थोड़ी-सी सत्ता प्राप्त करके जब शनैः-शनैः घनीभूत होता है, तब वह बादलके समान दृढ़ होकर चित्ताकाशको आच्छन्न करके जडताका कारण बनता है। चेतन विषयोंको अपनेसे पृथक्की भाँति समझता हुआ, जिस प्रकार बीज अङ्कुरावस्थाको प्राप्त होता है, वैसे ही सङ्कल्पावस्थाको प्राप्त होता है। सङ्कल्पसे सङ्कल्प-क्रिया स्वयं ही उत्पन्न होती है और स्वयं ही शीघ्र-शीघ्र बढ़ती है। वह दुःखका ही कारण बनती है, सुख प्रदान नहीं करती। चित्तमें सङ्कल्पकी क्रियाको रोको। स्थितिमें पदार्थोंकी भावना मत करो; क्योंकि सङ्कल्पका नाश करनेके लिये जिसने कमर कस ली है, वह पुनः उसका अनुगमन नहीं करेगा। भावनाका केवल अभाव हो जानेपर सङ्कल्प स्वयं ही नष्ट हो जाता है। मुनि! सङ्कल्पके द्वारा ही सङ्कल्पको और मनके द्वारा मनको छिन्न करके तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाओ; इसमें दुष्कर ही क्या है? क्योंकि जिस प्रकार यह आकाश शून्य है, उसी प्रकार यह जगत् शून्य है। जिस प्रकार धानका छिलका तथा ताँबेकी कालिमा क्रियासे नष्ट हो जाती है, विप्र! उसी प्रकार पुरुषका मलरूपी दोष क्रियासे दूर हो जाता है। धानके छिलकेकी भाँति जीवका मल उसके स्वभावगत है, तथापि वह नष्ट अवश्य हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं है। अतएव उद्योगी बनो'॥ १७६—१८६॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त॥ ५॥

षष्ठ अध्याय

ऋभुका उपदेश चालू

'अन्तरकी आस्थारूप एवं भावनामय भावोंकी सम्पत्तिका त्याग करके, हे निष्पाप! तुम जो हो, उसी स्थितिमें इस जगत्में सुखसे विचरण करो। 'मैं सर्वत्र अकर्ता हूँ'—इस भावनाकी दृढ़तासे वह परम अमृता नामकी समता ही शेष रहती है। खेद तथा उल्लासके विलास अपने ही किये हुए हैं—इस भावनासे अपने सङ्कल्पके क्षीण होनेपर समता ही अवशिष्ट रह जाती है। समस्त पदार्थोंमें समताकी जो सत्यनिष्ठ स्थिति है, उसमें चित्तके भलीभाँति स्थित होनेपर वह पुनः आवागमनका कारण नहीं बनता अथवा मुनि! समस्त कर्तृत्व तथा अकर्तृत्वका त्याग करके, मनको

पीकर, तुम जो हो, उसी स्थितिमें स्थिर हो जाओ। अन्तमें समाधिस्थ होकर जिससे तुम त्याग करते हो, उसका भी त्याग कर दो। चेतनने ही मन:संकल्पका आकार धारण कर रखा है तथा वही प्रकाश एवं अन्धकार बना हुआ है। अत: वासना करनेवालेका प्राणस्पन्दनके साथ-साथ समूल त्याग करके आकाशके समान निर्लेप एवं प्रशान्तचित्त हो जाओ। हृदयसे सारी वासनाओंका त्याग करके जो निराकुल होकर रहता है, वह मुक्त है; वह परमेश्वर है। उसने दसों दिशाओंमें भ्रान्तिके वश होकर घूमते हुए समस्त द्रष्टव्य पदार्थोंको देख लिया। युक्तिपूर्वक आचरण करनेवाले ज्ञानी पुरुषके लिये यह संसार गोष्पदके समान सहज ही तरनेयोग्य हो जाता है। शरीरके बाहर तथा भीतर, नीचे-ऊपर तथा दिशाओंमें—इधर-उधर, सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा है। उसके लिये जगत् अनात्ममय नहीं होता॥ १—१०॥

'वह स्थान नहीं है, जहाँ मैं नहीं हूँ और वह वस्तु नहीं है, जो आत्ममय न हो। मैं दूसरी किस वस्तुकी इच्छा करूँ, सब कुछ सत् और चिन्मय होकर व्याप्त है। यह सब कुछ निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है, यह सब आत्मा ही व्याप्त हो रहा है। हे निष्पाप! मैं और हूँ, यह और है—इस प्रकारकी भ्रान्तिको छोड़ दो। व्यापी और नित्य घनब्रह्ममें कल्पित भावोंकी सम्भावना नहीं है। इसमें न शोक है न मोह है, न जरा है न जन्म है। जो आत्मतत्त्वमें है, वही है; अतएव सर्वदा सर्वत्र किसी वस्तुकी इच्छा न करते हुए तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीको अनासक्त होकर भोगते हुए सन्तापहीन होकर रहो। त्याग और ग्रहणका परित्याग करके सर्वदा विगतज्वर होकर रहो। हे महामतिमान्! जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसमें शीघ्र ही वंशमें श्रेष्ठ मुक्ताके समान निर्मल विद्या प्रवेश करती है। विरक्त चित्तवालोंकी सम्यक्रूपसे स्वानुभूतिसे प्रकट की गयी यह बात है कि द्रष्टाको दृश्यके सम्बन्धसे जो निश्चयात्मिका आनन्द-प्रतीति होती है, उस अपने आत्मतत्त्वसे उत्पन्न स्पन्दनकी हम सम्यक् रीतिसे उपासना करते हैं। वासनाओंके साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इन तीनोंका त्याग करके साक्षात्कारके रूपमें भासमान आत्माकी हम सम्यक् उपासना करते हैं। अस्ति और नास्ति—इन दोनों पक्षोंके बीचमें स्थित, प्रकाशोंको भी प्रकाशित करनेवाले, शाश्वत आत्माकी हम सम्यक् उपासना करते हैं। अपने हृदयमें स्थित महेश्वरको छोड़कर जो अन्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे अपने हाथमें स्थित कौस्तुभमणिका त्याग करके दूसरे रत्नकी इच्छा करते हैं। इन इन्द्रियरूपी शत्रुओंको—चाहे ये उठे हुए हों या न हों—बारम्बार विवेकरूपी दण्डसे उसी प्रकार मारना चाहिये, जैसे इन्द्र वज्रसे पहाड़ोंको मार गिराते हैं॥ ११—२१॥

'संसाररूपी रात्रिके दु:स्वप्नरूप एवं सर्वथा शून्य इस देहमय भ्रममें जो कुछ प्रपञ्चका प्रसार देखा, सब ही अपवित्र देखा। बाल्यजीवनमें अज्ञानसे आबद्ध रहा, यौवनमें वनिताद्वारा मारा गया; अब अन्तमें यह नराधम स्त्री-पुत्रकी चिन्तामें दु:खी होकर क्या कर सकता है। सत्के सिरपर असत् स्थित है। रमणीय भावोंके ऊपर अरमणीयता सवार है। सुखोंके सिरपर दु:ख स्थित हैं। मैं किस एकका आश्रय लूँ? जिनके निमेष और उन्मेषसे जगत्का संहार और सृष्टि होती है, इस प्रकारके पुरुष भी जब कालके गालमें चले जाते हैं, तब मुझ-जैसोंकी तो गणना ही क्या है। संसार ही दु:खोंकी अन्तिम सीमा कही गयी है, उसमें शरीरके पड़े रहनेपर सुखास्वादन कैसे हो सकता है? मैं जाग गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्माको चुरानेवाला दुष्ट चोर यह मन ही है। मनने मुझको चिरकालसे चुरा लिया है। मैं इसको मार डालूँगा। हेय पदार्थोंके लिये खेद न करो, उपादेय पदार्थोंमें अनुरक्त मत होओ। हेय और उपादेयसम्बन्धी दृष्टिका त्याग कर शेषमें स्थित होकर सुस्थिर हो जाओ। संसारकी ओरसे निराशा, निर्भयता, नित्यता, समता, अभिज्ञता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धृति, मैत्री, संतोष, मृदुता तथा मृदुभाषिता प्रभृति गुण वासनासे विहीन तथा हेयोपादेयसे मुक्त ज्ञानी पुरुषमें रहते हैं। तृष्णारूपी भीलनीके फैलाये हुए वासनारूपी जालमें तुम फँस गये हो; चिन्तारूपी रश्मियोंके द्वारा संसाररूपी मृगजल चारों ओर फैला हुआ है। तात! जिस प्रकार बवंडरसे मेघजाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानरूपी तेज बर्छीसे उसे काटकर अपने व्यापक स्वरूपमें स्थित हो जाओ॥ २२—३२॥

'कुल्हाड़ीके द्वारा वृक्षके समान, मनसे ही मनको काटकर पावन पदको शीघ्र ही प्राप्तकर स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, सोते, जागते, निवास करते, उठते और गिरते समय भी 'ये सब असत् ही हैं' ऐसा निश्चय करके दृश्यमें आस्थाको छोड़ दो। यदि इस दृश्यका आश्रय लेते हो तो चित्तयुक्त होकर बन्धनमें पड़ते हो और यदि इस दृश्यका सम्यक् त्याग करते हो तो चित्तशून्य होकर मोक्षके

भागी बनते हो। न मैं हूँ, न जगत् है—इस प्रकार चिन्तन करते हुए तुम पर्वतके समान अचल होकर रहो। आत्मा और जगत्के मध्य, द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों अवस्थाओंके बीच अपनेको सर्वदा दर्शनस्वरूप आत्मा ही समझते रहो। आस्वादनके पदार्थ तथा आस्वादनकर्तासे भिन्न तथा इन दोनोंके मध्यमें अवस्थित केवल आस्वादनका ध्यान करते हुए परमात्ममय हो जाओ। बीच-बीचमें निरालम्ब-अवस्थाका अवलम्बन कर स्थिर हो जाओ। रज्जुसे बँधे हुए तो मुक्त हो जाते हैं, परंतु तृष्णासे बँधे हुए जीव किसीके द्वारा भी मुक्त नहीं किये जा सकते। अतएव निदाघ! तुम सङ्कल्पको छोड़ते हुए तृष्णाका त्याग करो। अहंभावशून्यतारूपी बर्छीके द्वारा इस अहंभावमयी, स्वभावत: उत्पन्न हुई पापिनी तृष्णाको काटकर समस्त प्राणियोंको उत्पन्न होनेवाले भयसे अभय होकर सुन्दर परमार्थलोकमें विचरण करो। मैं इन पदार्थोंका हूँ और ये मेरे जीवन हैं, इनके बिना मैं कुछ नहीं हूँ और न ये मेरे बिना कुछ हैं—अन्त:करणके इस निश्चयका त्याग करके तथा मनसे विचारकर 'मैं पदार्थोंका नहीं हूँ तथा पदार्थ मेरे नहीं हैं'—ऐसी भावना करो। शान्तचित्तसे विचारपूर्वक कर्मोंको सहजभावसे करते हुए जो वासनाका त्याग है, ब्रह्मन्! वही ध्येय कहा गया है॥ ३३—४३॥

'समता रखनेवाली बुद्धिसे जो वासनाका सर्वथा क्षय करके ममतारहित हो जाता है, उसीसे शरीर-बन्धन छोड़ा जाता है। ऐसा वासनाक्षय अवश्यकर्तव्य है। जो अहंकारमयी वासनाको सहजमें ही छोड़कर ध्येय वस्तुका सम्यक् त्याग करके स्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सङ्कल्परूपी वासनाका मूलसहित त्याग करके शान्तिको प्राप्त होता है, उसीका वह त्याग जाननेयोग्य है और उसीको मुक्त एवं ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ जानो। ये ही दोनों ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं, ये ही दो संसारतापसे मुक्त हैं। शम-दमसम्पन्न संन्यासी और योगी, हे मुनीश्वर! यथासमय आ पड़नेवाले सुखों और दु:खोंमें रत नहीं होते। जिसकी अन्तर्दृष्टिमें इच्छा-अनिच्छा दोनों ही नहीं हैं तथा जो सुषुप्तके समान आचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो वासनाशून्य है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कार्पण्यदृष्टिसे न प्रसन्न होता है, न दु:खी होता है। जो तृष्णा बाह्य विषयोंकी वासनासे उत्पन्न होती है, वह बन्धनकारक होती है और जो तृष्णा सब प्रकारके विषयोंकी वासनासे मुक्त होती है; वह मोक्षकारक होती है। 'मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो'—इस प्रकारकी प्रार्थनासे युक्त इच्छा दु:ख, जन्म और भय प्रदान करनेवाली होती है। उसे दृढ़ बन्धनस्वरूप जानो। महात्मालोग सत् और असत्रूप सभी पदार्थोंकी इच्छाका सर्वदा एवं सम्यक् त्याग करके परम उदार पदको प्राप्त होते हैं। बन्धकी आस्था (बन्धनकी सत्तामें विश्वास) तथा मोक्षकी आस्था एवं सुख-दु:ख-स्वरूपवाली सत् और असत्की आस्थाका सर्वथा त्याग करके तुम प्रशान्त महासागरकी भाँति स्थिर हो जाओ॥ ४४—५३॥

'महात्मन्! पुरुषको चार प्रकारके निश्चय होते हैं। 'पैरसे लेकर सिरतक मेरी सृष्टि माता-पिताके द्वारा हुई है'—यह पहला निश्चय है। ब्रह्मन्! बन्धनमें दु:ख देखकर 'मैं सब प्रकारके सांसारिक भावोंसे परे बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म आत्मा हूँ'—इस प्रकारका दूसरा निश्चय संतजनोंको मुक्ति प्रदानके लिये होता है। विप्रवर! तीसरा निश्चय यह है कि 'मैं समस्त जगत्के पदार्थोंका आत्मा हूँ, सर्वस्वरूप और अक्षय हूँ।' यह निश्चय मोक्षका कारण बनता है। 'मैं अथवा जगत् सब आकाशवत् शून्य है'—इस प्रकारका चौथा निश्चय मोक्षसिद्धि प्रदान करता है। इनमेंसे पहला निश्चय बन्धनमें डालनेवाली तृष्णासे युक्त होता है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णासे युक्त होते हैं और इन त्रिविध निश्चयोंवाले पुरुष जीवन्मुक्त तथा आत्मतत्त्वमें विलास करनेवाले होते हैं। परम बुद्धिमान्! सब कुछ मैं ही हूँ'—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसको ग्रहण करके बुद्धि पुन: विषादको प्राप्त नहीं होती॥ ५४—६०॥

'शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान तथा नित्य आत्माके नामसे पुकारा जाता है। परमात्ममयी अद्वैतशक्ति ही द्वैत एवं अद्वैतसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे जगत्के निर्माणकी लीला करके विकसित होती है। जो समस्त प्रपञ्चसे परे आत्मपदका आश्रय लेकर एक परिपूर्ण चिन्मय स्थितिमें रहकर न उद्वेग करते हैं न सन्तुष्ट होते हैं, संसारमें वे शोकको नहीं प्राप्त होते। जो नित्य प्राप्त कर्मको करता है, शत्रु-मित्रको समान दृष्टिसे देखता है तथा इच्छा और अनिच्छासे मुक्त है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, सबसे प्रिय बोलता है, पूछे जानेपर मृदु भाषण करता है और प्राणियोंके आशयको जानता है, वह संसारमें शोकको नहीं प्राप्त होता। ध्येय वस्तुके त्यागसे विलसित होनेवाली पूर्व दृष्टिका अवलम्बन कर, संसार-तापसे रहित एवं आत्मस्थ होकर जीवन्मुक्तकी भाँति जगत्में

विचरण करो। सारी आशाओंको हृदयसे त्यागकर, वीतराग एवं वासनाशून्य होकर, बाहरसे समस्त जागतिक व्यवहारोंको भलीभाँति करते हुए संसारमें तापरहित होकर विचरण करो। बाहरसे कृत्रिम क्रोधका नाट्य करते हुए तथा हृदयसे क्रोधशून्य, बाहरसे कर्ता तथा हृदयसे अकर्ता बनकर शुद्धचित्तसे लोकमें विचरण करो। अहङ्कारको छोड़कर, शान्तचित्त होकर, कलङ्क-कालिमासे सर्वथा मुक्त हो, आकाश-सा स्वच्छ जीवन ले शुद्ध मनसे लोकमें विचरण करो।'॥ ६१—६९॥

'उदार एवं श्रेष्ठ आचरणसे युक्त, समस्त सदाचारोंका अनुगमन करता हुआ, भीतरसे अनासक्त होकर बाहरसे यत्नशील-सा रहे। अन्तःकरणमें वैराग्यवान् होकर बाहरसे आशान्वित व्यवहार करे। यह मेरा बन्धु है और वह नहीं है, यह तुच्छ बुद्धिवालोंकी बात है। उदार चरित्रवालोंके लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब होता है। जो भाव और अभावसे मुक्त है, जरा-मरणसे वर्जित है, जहाँ सारे सङ्कल्प पूर्णतः शान्त हो जाते हैं, ऐसे रागरहित एवं सुरम्य पदका आश्रय लो। यह स्वच्छ, निष्काम, दोषविहीन ब्राह्मी स्थिति है। इसको ग्रहण करके विहार करता हुआ पुरुष सङ्कटकालमें मोहको नहीं प्राप्त होता। वैराग्यसे अथवा शास्त्रज्ञानसे तथा महत्त्वादि गुणोंके द्वारा जो सङ्कल्पका नाश किया जाता है, उससे मन स्वयं ही उन्नत अवस्थाको प्राप्त होता है। निराशाके वशीभूत हुआ मन वैराग्यके द्वारा पूर्णताको प्राप्त होता है। वही आशायुक्त होनेपर शरद्में स्वच्छ सरोवरके समान रागको प्राप्त होता है। उसी भोगसे विरक्त मनको पुनः-पुनः प्रतिदिन व्यापारोंमें डालते हुए प्राज्ञ पुरुषको लज्जा क्यों नहीं आती। चित् और विषयके योगको बन्धन कहते हैं। उस योगसे मुक्त होना ही मुक्ति कहलाता है। निश्चयपूर्वक विषयविहीन चित् ही आत्मा है, यह समस्त वेदान्त-सिद्धान्तका सार है। इस निश्चयको ग्रहणकर प्रदीप्त अन्तःकरणसे स्वयं ही अपने-आपको देखो। इससे आनन्दपदकी प्राप्ति होगी। मैं चित् हूँ। ये लोक चित् हैं, दिशाएँ चित् हैं। ये जीवमात्र चित् हैं। दृश्य और दर्शनसे मुक्त होकर, केवल स्वच्छ रूपवाला साक्षी चिदात्मा निराभास और नित्य उदित होकर द्रष्टा बन रहा है। विषयोंसे मुक्त, पूर्ण ज्योतिःस्वरूप, समस्त संवेदनसे पूर्णतया मुक्त चित्स्वरूप तथा महान् संवित्मात्र मैं हूँ। मुनीश्वर! सारे सङ्कल्पोंको पूर्णतः शान्त करके समस्त एषणाओंका परित्याग कर निर्विकल्पपदमें जाकर आत्मस्थ हो जाओ'॥ ७०—८२॥

'जो ब्राह्मण इस महोपनिषद्का नित्य अध्ययन करता है, वह अश्रोत्रिय हो तो श्रोत्रिय हो जाता है। उपनीत न हो तो उपनीत हो जाता है। वह अग्निपूत होता है, वह वायुपूत होता है, वह सोमपूत होता है, सत्यपूत होता है। वह सर्वथा पवित्र हो जाता है। वह सब देवताओंका परिचित हो जाता है। उसको सारे तीर्थस्नानोंका फल प्राप्त होता है। उसे सब देवताओंके ध्यानका फल मिल जाता है। वह सब यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है। सहस्रों गायत्रीके जपका फल उसे प्राप्त होता है। सहस्रों इतिहास-पुराणके पाठका फल उसे मिल जाता है। दस हजार प्रणवजपका फल उसे मिलता है। जहाँतक उसकी दृष्टि जाती है, वह पङ्क्तिको पवित्र करता है। सात पहले और सात आगेकी पीढ़ियोंको पवित्र करता है। यों भगवान् हिरण्यगर्भ—ब्रह्माजीने कहा। इसका जप करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, यह उपनिषद्—रहस्य है।'

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त॥ ६॥

॥ सामवेदीय महोपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!